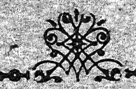




साहित्यालाप





साहित्यालाप

लेखक—

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

खड्गविलास प्रेस, पटना

१९२९

विषय-सूची ।

निवेदन

मानवी प्रकृति पर परिस्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। स्थिति चाहे जितनी ही प्रतिकूल और दोषपूर्ण हो, धीरे धीरे, वह स्वाभाविक सी हो जाती है। स्वाधीनता के सदृश सुख नहीं और पराधीनता के सदृश दुःख नहीं। तथापि, चिर-काल तक पराधीन रहनेवाली जातियां अपनी उस स्थिति में भी सन्तोष मानने लगती हैं। जो मनुष्य दस पाँच वर्ष जेल में रह जाता है, वह, वहां से निकलने पर, फिर वहीं पहुँचने के लिए, कभी कभी, जुर्म कर बैठता है। ऐसों को जगाने—उन्हें अपनी दूषित दुर्वासनाओं को छोड़ने—के लिए बहुत प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

सुसभ्य, शिक्षित और जागृत देश अपनी स्वाधीनता ही के सदृश अपनी मातृभाषा की भी रक्षा, जी जान से, करते हैं। रक्षा ही नहीं, वे उसकी दैनंदिन उन्नति के लिए भी सदा सचेष्ट रहते हैं। वे जानते हैं कि स्वाधीनता की रक्षा के लिए स्वभाषा की रक्षा और उन्नति अनिवार्य्य है। पर अनेक कारणों से यह बात इस देश के निवासियों के ध्यान में बहुत समय तक नहीं आई। इस त्रुटि या इस विस्मृति का ज्ञान हुए अभी मुश्किल से साठ सत्तर वर्ष हुए होंगे। जिन प्रान्तों में शिक्षा का प्रचार और उसका विस्तार औरों की अपेक्षा अधिक हुआ,

वहीं के निवासियों का ध्यान, अपनी इस दुर्व्यवस्था की ओर, पहले पहल गया। फल यह हुआ कि वे लोग अपनी अपनी मातृभाषाओं की उन्नति के लिए दत्तचित्त होने लगे। इनका यह काम दिन पर दिन अधिक परिमाण में बढ़ता गया। अब, इस समय, उन प्रान्तों की भाषायें बहुत कुछ श्रीसम्पन्न हो गई हैं।

इस सम्बन्ध में अपना प्रान्त, संयुक्त प्रदेश, कई अन्य प्रान्तों के मुक़ाबले में बहुत पीछे रह गया। इसके कारणों में से दो को मुख्य समझना चाहिए। एक तो शिक्षा-प्राप्ति में कमी, दूसरे एक के स्थान में दो भाषाओं या बोलियों का अस्तित्व। यहां दो से मतलब हिन्दी और उर्दू से है। इन प्रान्तों के अधिकांश निवासियों की भाषा है तो हिन्दी, पर गवर्नमेंट ने उसे दाद न देकर उर्दू ही को अपने दफ्तरों और अदालतों में जारी रखने की कृपा की। हिन्दी की अनुन्नति का यह भी एक विशेष कारण हुआ। यह सब होने पर भी, अन्य प्रान्तों की देखादेखी, जब अपने प्रान्त के भी कुछ विचारशील सज्जनों के ध्यान में अपनी भाषा की हीनता आई, तब वे भी सजग हो गये। वे भी उसकी उन्नति के साधन में लग गये। यह कोई ४० वर्ष पहले की बात हुई।

आरम्भ में हिन्दी की ओर हिन्दी-भाषा-भाषियों का ध्यान बहुत धीरे धीरे आकृष्ट हुआ। पर उस आकर्षण की मात्रा बढ़ती ही गई। इस वृद्धि को, "सरस्वती" नामक पत्रिका निकाल कर, प्रयाग के इंडियन प्रेस ने, बहुत अधिक

विशेषता प्रदान कर दी। इस पत्रिका ने हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार और उन्नयन के लिए कहां तक चेष्टा की, यह बात, इस संग्रह में सन्निविष्ट लेखों से अच्छी तरह ज्ञात हो सकती है। इसके कुछ लेख बहुत पुराने हैं। उनका प्रकाशन हुए बीस पच्चीस तक वर्ष हो गये। उनसे पाठकों को मालूम हो जायगा कि यह क्षुद्र जन अपनी भाषा और अपनी लिपि के लिए, अपनी अत्यल्प शक्ति के अनुसार, कहां तक और कितना प्रयत्नशील रहा है। वह अल्पज्ञ है, तथापि बहुज्ञों को इस ओर उदासीन सा देख, अपनी अत्यल्प शक्ति के अनुसार, उसने अपने कर्तव्य-पालन में त्रुटि नहीं होने दी। उसने अपनी भाषा और अपनी लिपि के गुणों का भी कीर्तन किया, उनके प्रचार से होनेवाले लाभों का भी निदर्शन किया और यथाशक्ति विरोधियों की उक्तियों का खण्डन भी किया। उसे यह देखकर बहुत सन्तोष हो रहा है कि उसकी आरम्भिक चेष्टायें फलवती हुईं। उससे अधिक योग्य, अधिक कार्य्यकुशल और अधिक शिक्षित सज्जनों ने भी उसके स्वीकृत क्षेत्र में पदार्पण करके उसे विशेष परिष्कृत कर दिया। इन्हीं सुकृती जनों के परिश्रम का यह फल है जो इस समय, अपनी भाषा में, अनेक उत्तमोत्तम समाचारपत्र और सामयिक पुस्तकें निकल रही हैं, भिन्न भिन्न विषयों की अनेक उपादेय पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं और अनेक अध्यवसायशील पुरुष पुस्तकप्रकाशन का व्यवसाय करके बहुत कुछ धनोपार्जन कर रहे हैं।

वे कराना चाहते थे उसका वे चित्र बना देते थे। यदि उन्हें पेड़ लिखना होता था तो वे पेड़ का चित्र बना देते थे, यदि हाथी लिखना होता था तो हाथी का, यदि मनुष्य लिखना होता था तो मनुष्य का। इस तरह की वर्णमाला का प्रचार ईजिप्ट अर्थात् मिश्र देश में बहुत समय तक था। वहां की इस प्राचीन लिपि में लिखी गई अनेक शिला-लिपियाँ योरप के अजायबघरों और पुस्तकालयों में सयत्न रक्खी हुई हैं। ऐसी लिपियां प्राचीन मन्दिरों और समाधियों में अब तक पाई जाती हैं। जैसे जैसे इस तरह की लिपि अधिक काम में आती गई, वैसे ही वैसे लोग, जल्दी के कारण, वस्तुओं के चित्रों की पूर्णता की तरफ कम ध्यान देते गये। जैसे, यदि उन्हें आदमी का चित्र बनाना होता तो वे आदमी के हाथ, पैर, धड़ और सिर का स्थूल आकार मात्र लिख देते। इस तरह अनेक वस्तुओं के चित्र, धीरे धीरे, यहां तक बिगड़ गये कि उनके आकार से उनका ज्ञान न होने लगा। यह बात चीन और जापान की वर्णमाला से सिद्ध है। इन देशों की वर्णमालायें भी वस्तु-चित्रण के आधार पर बनी हुई हैं।

कुछ समय तक इस तरह की वर्णमाला से काम चला, पर गुणवाचक शब्द और विशेषण लिखने में गड़बड़ होने लगी। लाल और काले घोड़े को लोग लाल और काले रङ्ग से लिख देते। पर विद्वान् और मूर्ख मनुष्य का चित्र बनाने में उन्हें सुभीता न होता। क्रियाओं के रूप लिखने में भी उन्हें कठिनता का सामना करना पड़ता। इससे प्रयोज्य शब्दों की

संख्या जब बढ़ गई तब चतुर मनुष्यों ने सङ्केतरूपी वर्ण बनाये। यद्यपि इस बात का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता कि इस देश में भी कभी मिश्र और चीन की जैसी चित्ररूपिणी लिपि का प्रचार था, तथापि कई पुरातत्व के पण्डितों का अनुमान है कि था ज़रूर। इसके प्रमाण में वे देवनागरी अक्षरों—विशेष करके अशोक के समयवालों—का सादृश्य रोज़मर्रा की व्यावहारिक चीज़ों और मनुष्य के अवयवों से बतलाते हैं। वे कहते हैं कि रज्जु (रस्सी) का चिह्न या चित्र 'र' है; पाणि (हाथ के पञ्जे) का चिह्न 'प' है; और गतिसूचक पैरों का चिह्न 'ग' है। वर्ण शब्द से यह अनुमान होता है कि भारतवासी मिश्र को रङ्ग-बिरङ्गी चित्रलिपि से परिचित थे। ऐसी लिपि में रङ्ग काम आता था। इसीसे जब प्राचीन आर्यों ने अपने यहां लिपि के सङ्केत निश्चित किये तब उन्होंने उन सङ्केतों का नाम वर्ण और उनके समुदाय का नाम वर्णमाला रक्खा।

योरप के प्रसिद्ध संस्कृतवेत्ता मोक्षमूलर साहब ने संस्कृत-भाषा का इतिहास लिखा है। उसमें आपने इस विषय का बहुत विचार किया है कि इस देश की देवनागरी वर्णमाला की सृष्टि कब हुई और उसे भारतवासी आर्यों ने कहां से पाया। आपकी राय है कि यह वर्णावली प्राचीन सेमिटिक अक्षरों से निकली है। पर इस देश के पुरातत्वज्ञ पण्डितों को यह बात मान्य नहीं। देवनागरी वर्णमाला संसार की समस्त वर्णमालाओं से अधिक पूर्ण, अधिक नियमानुसारिणी और अधिक शृङ्खला-

बद्ध है। मनुष्य का मुँह—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दाँत, ओंठ और जीभ आदि—अवयवों में विभक्त है। जितने प्रकार की ध्वनियाँ मुँह से निकलती हैं, उन सब को, देवनागरी वर्णमाला के आविष्कर्ताओं ने अपने अपने अवयव के अनुसार, यथानियम, वर्णरूपी चिह्नों से बाँध सा दिया है। इसीसे चाहे जैसी ध्वनि मुँह से निकले, नागरी में वह तद्वत् लिखी जा सकती है। इसीसे इस वर्णमाला का इतना आदर है। इसीसे यह वर्णमाला संसार की और वर्णमालाओं में श्रेष्ठ है। जो गुण इस में है वह और वर्णमालाओं में नहीं। अर्थात् कण्ठस्वर के अनुसार जैसी रचना इसके वर्णों की है वैसी न सेमिटिक की है, न ग्रीक की है, न अरबी की है। इसीसे इस देश के पण्डित पाश्चात्य पण्डितों की पूर्वोक्त उक्ति का प्रचारण-पूर्वक खण्डन करते हैं और कहते हैं कि हमारी वर्णमाला एकमात्र हमारी सम्पत्ति है। उस पर किसी दूसरे का अणुरेणु भर भी स्वत्व नहीं। यदि उस पर कोई किसी तरह का दावा करे तो वह झूठ। जनरल कनिंहम आदि कई योरोपियन पण्डितों की भी ऐसी ही राय है।

देवनागरी वर्णमाला भारतवर्ष की सबसे पुरानी वर्णमाला है। आर्यभाषा-सम्बन्धिनी जितनी अन्य वर्णमालायें इस समय प्रचलित हैं, सब उसीसे निकली हैं। जिस समय उसकी उत्पत्ति हुई उस समय उसका वह रूप न था जिस रूप में हम उसे इस समय देखते हैं। इस संसार में कोई चीज़ स्थिर नहीं; सबमें परिवर्तन हुआ करता है। संसार खुद ही परिवर्तनशील

है। अतएव भाषा और वर्णमाला भी परिवर्तन के नियमों से खाली नहीं। जिस तरह भाषा हमेशा बदला करती है उसी तरह लिपि भी बदला करती है। देवनागरी लिपि ने भी अपने जन्म से लेकर आज तक अनेक रूप धारण किये हैं। उसके क्रम-प्राप्त रूपान्तरों का चित्र हम यहां पर प्रकाशित करते हैं (चित्र संख्या १ देखिये)।

वेदों का नाम है श्रुति। सुनकर ही उनका ज्ञान पहले होता था। इसीसे उनको श्रुति की संज्ञा मिली। यदि वे लिपिबद्ध होते तो, सम्भव है, उनको श्रुति-संज्ञा न प्राप्त होती। वेदों में लिपि या लिखने का ज़िक्र नहीं। इससे विद्वानों का अनुमान है कि वेद-काल में लिपि की उत्पत्ति न हुई थी। वेदों का ज्ञान लोगों को सुन कर ही होता था, लिखी हुई पुस्तक देखकर नहीं। वेदों के एक भाग का नाम है ब्राह्मण। वे गाथामय हैं। उनकी रचना गद्य में है। उनमें भी लिपि-सम्बन्धिनी कोई बात प्रत्यक्ष रीति पर नहीं। पर उनके रचना-क्रम पर विचार करने से जान पड़ता है कि ब्राह्मण-काल में नागरी लिपि की उत्पत्ति हो चुकी थी। पुरातन साहित्य के ज्ञाता कहते हैं कि ईसा से आठ नौ सौ वर्ष पहले ब्राह्मण-काल का आरम्भ होता है। अर्थात् हमारी वर्णमाला को उत्पन्न हुए कोई २७०० वर्ष हुए। परन्तु मोक्षमूलर आदि पाश्चात्य पण्डित इस बात का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि लिख् या तत्समानार्थक धातुओं से बने हुए कोई शब्द ब्राह्मणों में नहीं पाये जाते। अतएव उस समय

लिपि-सृष्टि का प्रादुर्भाव मानना असिद्ध है। इस आपत्ति का उत्तर यह दिया जाता है कि वेद के ब्राह्मण-भाग में जो गाथायें हैं उनमें जगह जगह पर श्रुति के हवाले हैं। प्रसङ्गानुकूल जिन श्रुतियों का उल्लेख किया गया है उनके सिर्फ आरम्भ के दो चार शब्द लिख कर उनका स्मरण दिलाया गया है। यदि उस समय ब्राह्मण-ग्रन्थ शृङ्खलाबद्ध होकर न लिखे गये होते, तो इस प्रकार गाथाओं के बीच में ऋचाओं के आदि शब्द दे कर उनका हवाला न दिया जाता। वेद का संहिता-भाग भी उस समय ज़रूर लिपिबद्ध हो गया होगा, क्योंकि जो ग्रन्थ लिखित और विशेष रूप से प्रचलित नहीं होता उसके वाक्य दूसरे ग्रन्थों में यथानियम नहीं उद्धृत किये जा सकते। फिर वेदों में जितनी पंक्तियां दुबारा हैं, उनकी गिनती शतपथ ब्राह्मण के दसवें काण्ड में है। यदि वेद उस समय लिखित न होते तो उनकी पंक्तियों की गिनती कैसे हो सकती?

और, यदि, ब्राह्मण या संहिता में लिपि-विषयक कोई प्रमाण न भी पाया जाय तो क्या उससे यह सिद्ध हो सकता है कि उस समय लिखने की कला उत्पन्न ही न हुई थी? कोई भी नया आविष्कार होने पर उसका प्रचार होने में देर लगती है। सम्भव है, संहिताकाल ही में लिखने की कला लोगों को मालूम हो गई हो पर उन्होंने वेदादि महत्वपूर्ण ग्रन्थों को लिखना न शुरू किया हो। उन्हें वे परम्परा की प्रथा के अनुसार सुनकर ही याद करते रहे हों। जब तक किसी बात के

अस्तित्व के प्रतिकूल कोई प्रमाण न दिया जाय तब तक अनुमानमात्र से उसके होने में सन्देह करना अन्याय है।

मनुस्मृति, महाभारत और अष्टाध्यायी में 'लिख्' धातु से बने हुए शब्द स्पष्ट रीति से पाये जाते हैं। परन्तु संस्कृतज्ञता में प्रसिद्धि पानेवाले पश्चिमी विद्वान् उनके अर्थ के सम्बन्ध में भी तरह बेतरह के कुतर्क करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उनसे लिपि-कला का अस्तित्व नहीं साबित होता। हम इन विद्वानों पर यह दोष नहीं लगाते कि ये जान बूझ कर अर्थ का अनर्थ करना चाहते हैं। पर यह बात अवश्य है कि ये लोग कभी कभी ऐसी शङ्कायें कर बैठते हैं जिनको सुनकर इस देश के वैदिक और लौकिक साहित्य के पण्डितों को हँसी आती है। सम्भव है, इस प्रकार का शङ्का-बाहुल्य पाश्चात्य पण्डितों की सूक्ष्मतर दृष्टि और विशेषतर पण्डिताई का फल हो।

मनुस्मृति के दसवें अध्याय का पहला श्लोक यह है—

"अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्म्मस्था द्विजातयः।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्तेषां नेतरौ इति निश्चयः॥"

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य तीनों वर्ण वेद पढ़ें, पर पढ़ावे सिर्फ़ ब्राह्मण। इसमें "अधीयीरन्" क्रिया का अर्थ है अध्ययन करें। और अध्ययन, अध्यापन आदि शब्दों से लिखी हुई पुस्तकों ही का पढ़ना पढ़ाना सूचित होता है। परन्तु मोक्ष-मूलर साहब इस अर्थ को नहीं मानते। वे इस तरह के पदों का अर्थ करते हैं—अधिगत करना, प्राप्त करना या पाना। अर्थात् उनके मत में मनुस्मृति में भी कहीं लिखने का ज़िक्र

नहीं। मतलब यह कि उस समय तक भी लिखने की कला का प्रचार या प्रादुर्भाव इस देश में न हुआ था। परन्तु साहब की दृष्टि एक श्लोक पर नहीं गई। वह मनुस्मृति के आठवें अध्याय का १६८ वां श्लोक है। उसमें "लेखित" शब्द स्पष्ट-रूप से आया है। देखिए—

"बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत्॥"

अर्थात् बलपूर्वक दी हुई, बलपूर्वक उपभोग की हुई और बलपूर्वक लिखाई हुई चीज़ों को मनु न करने के बराबर मानते हैं। इस श्लोक में 'लेखित' पद के आ जाने से मनुस्मृति के ज़माने में लिपिकला के अच्छी तरह प्रचार का बलवान् प्रमाण विद्यमान है।

महाभारत में लिखा है।

"वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव लेखकाः।
वेदानां दूषकाश्चैव ते वै निरयगामिनः॥"

जो लोग वेदों की बिक्री करते हैं, अर्थात् कुछ लेकर उन्हें पढ़ाते हैं, वेदों को लिखते हैं, वेदों की निन्दा करते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं। मोक्षमूलर साहब कहते हैं कि इस श्लोक में "लेखकाः" पद से लेखकों का अर्थ तो ज़रूर निकलता है; पर महाभारत के समय में वेद लिखे नहीं जाते थे। क्यों? उनके लिखने की मनाई थी? साहब की यह उक्ति एकबारही युक्तिहीन है। यदि उस समय किसीने वेदों को न लिखा होता तो उनके लिखने की मनाई क्यों होती? जिस चीज़ का

अस्तित्व ही नहीं उसके करने का कहीं निषेध होता है? लोग चोरी करते हैं; इसलिए पेनलकोड में चोर के लिए दण्ड का विधान किया गया है। यदि कभी चोरी हुई ही न होती, तो दण्ड का भय ही क्यों दिखाया जाता? इस श्लोक में वेद-विक्रय की जो बात है उससे दो अर्थ निकलते हैं। एक तो वेतन के रूप में कुछ लेकर वेद पढ़ाना, दूसरा वेद लिख कर लिखी हुई पुस्तक को बेचना। यदि दूसरा अर्थ न भी ग्राह्य हो तो भी लेखकों को नरक में जाने का भय दिखाना इस बात को निर्विवाद सिद्ध करता है कि लोगों ने वेद को लि . ना ज़रूर शुरू किया था। अन्यथा उनके लिए नरकगमन का डर दिखाने की कोई ज़रूरत न थी।

जब कोई नई बात निकलती है तब उसके प्रचार में बहुधा बाधा आती है। इस समय भी अनेक नई नई बातें करने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति है; और कुछ लोग करने भी लगे हैं। परन्तु उन बातों की उपयोगिता का ख़याल न करके पुरानी बातों के पक्षपाती उनका विरोध कर रहे हैं। इस उदाहरण से हम अनुमान कर सकते हैं कि जब पहले पहल लिपि-कला की उत्पत्ति हुई होगी, तब वेदों के समान पवित्र माने गये ग्रन्थों को अपवित्र नहीं तो तुच्छ, कागज़ और स्याही की सहायता से लिपिबद्ध करना लोगों को अच्छा न लगता होगा। अतएव उन्होंने तत्कालीन ग्रन्थों के लिखे जाने का घोर विरोध किया। बहुत सम्भव है कि मनुस्मृति और महाभारत के बहुत पहले वर्णमाला की उत्पत्ति हुई हो; पर नई आविष्कृति के कारण, लोगों के

विरोध करने पर, बहुत दिनों तक उसका प्रचार रुका रहा हो।

बाबू रामदास सेन ने बँगला में ऐतिहासिक रहस्य नाम की एक पुस्तक, तीन भागों में, लिखी है। उसमें आपने व्याकरण-प्रणेता पाणिनि के समय आदि का भी विचार किया है। आपका विचार युक्तियुक्त और प्रमाणपूर्ण है। आपके मत में पाणिनि का समय ईसवी सन से पाँच छ सौ वर्ष पहले है। पर मोक्षमूलर साहब को पाणिनि के समय में भी लिपिकला के उत्पन्न होने में शङ्का है। इस विषय पर आपने अपने संस्कृत के इतिहास में बहुत कुछ शङ्का-समाधान किया है। साहब की सब शङ्काओं की अवतारणा करने की हम, इस छोटे से लेख में, ज़रूरत नहीं समझते। हम सिर्फ दो एक स्थूल बातें कह कर ही साहब की शङ्काओं का समाधान करने की चेष्टा करेंगे। पाणिनीय व्याकरण के आरम्भ ही में अ इ उ ण् और ऋ लृ क् आदि जो माहेश्वर सूत्र हैं उनमें सारी वर्णमाला आ गई है। यदि पाणिनि के समय में—समय में क्यों, उससे भी बहुत पहले—वर्णों की सृष्टि न हुई होती तो उनका नाम इन सूत्रों में क्योंकर आता? पाणिनि का "उरणरपरः" सूत्र भी लिपि की सृष्टि का सबसे बड़ा प्रमाण है। फिर एक बात और है। जब तक कोई भाषा अच्छी तरह लिखी नहीं जाती तब तक उसका व्याकरण नहीं बनता। संस्कृत-व्याकरण में बहुत से नियम ऐसे हैं जो अगले वर्णों से सम्बन्ध रखते हैं। व्यवधान और अव्यवधान का भी उसमें अनेक जगह पर

ज़िक्र है। ये बातें तभी सम्भव होती हैं जब भाषा लिखित रूप में प्रचलित हो। पाणिनि ने 'ग्रन्थ' शब्द का भी कई बार उपयोग किया है; इससे भी उनके समय में लिपि का होना सिद्ध है, क्योंकि ग्रथन करना अर्थात् गूथना वर्णों के बिना सम्भव नहीं। और ग्रन्थ का अर्थ वाक्यों या शब्दों का गूथना ही है।

ललित-विस्तर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह एक बौद्ध पण्डित का बनाया हुआ है। परलोक-वासी डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने उसका सम्पादन करके उसे छपाया है। डाक्टर साहब ने उसकी जो भूमिका लिखी है वह बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण है। ७६ ईसवी में इस पुस्तक का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था। बाबू चारुचन्द्र बन्द्योपाध्याय अपने एक लेख में इस पुस्तक का हवाला देकर लिखते हैं कि शाक्यसिंह ने विश्वामित्र नामक एक अध्यापक से लिखना सीखा था और अङ्ग, वङ्ग, मगध, द्रविड़ आदि देशों में प्रचलित कई प्रकार की लिपियां वे लिखते थे। इससे स्पष्ट है कि ईसा के कई सौ वर्ष पहले लिखने की कला का प्रचार इस देश में हो गया था, और एक ही नहीं, किन्तु कई प्रकार की लिपियां प्रचलित हो गई थीं। हम यह लेख एक ऐसी जगह लिख रहे हैं जहां ललितविस्तर अप्राप्य है। इससे हम बाबू चारुचन्द्र बन्द्योपाध्याय के दिये गये प्रमाण खुद नहीं देख सके। परन्तु हमको बाबू साहब के कथन पर विश्वास है। हम उनके दिये हुए प्रमाण को अमूलक नहीं समझते।

हितोपदेश में है—"पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते"। अर्थात् पञ्चतन्त्र तथा और और ग्रन्थों से भी विषयों का संग्रह करके यह पुस्तक लिखी जाती है। फ़ारिस के बादशाह नौशेरवां की आज्ञा से हितोपदेश का अनुवाद, ५५० ईसवी में, फ़ारसी भाषा में, हुआ था। अतएव आज से कोई १४०० वर्ष पहले लिखने का प्रचार बहुत कुछ हो गया था। हितोपदेश से उद्धृत किये गये पूर्वोक्त वाक्य में "लिख्यते" पद इसकी गवाही दे रहा है।

इन प्रमाणों से यह निर्विवाद है कि हमारी देवनागरी लिपि यदि बहुत पुरानी नहीं तो २५०० वर्ष की पुरानी ज़रूर है।

[आक्टोबर १९०५]

२-देवनागरी-लिपि के प्रचार का प्रयत्न

माननीय मिस्टर शारदाचरण मित्र ने कलकत्ते में एक-लिपि-विस्तार-परिषद् नाम की एक संस्था खोली है। उसका उद्देश देवनागरी लिपि का प्रचार बढ़ाना है। धीरे धीरे यह परिषद् अपने काम में आगे बढ़ने के लक्षण दिखा रही है। मित्र महाशय के प्रयत्न से इसका एक विशेष अधिवेशन २६ दिसम्बर को प्रयाग की कांग्रेस के मण्डप में हुआ। मद्रास हाईकोर्ट के जज, माननीय मिस्टर कृष्णस्वामी आइयर, सभापति हुए। आप बड़े विद्वान्, बड़े अच्छे वक्ता और देवनागरी-लिपि-प्रचार के बड़े पक्षपाती हैं। आपने एक बड़ा ही मनोहर, अर्थ-गौरव-पूर्ण और प्रबल-युक्तिगर्भित व्याख्यान दिया। बाबू रामानन्द चैटर्जी, मिस्टर जी० ए० नटेसन, रायबहादुर लाला बैजनाथ, पण्डित गोकर्णनाथ मिश्र और मिस्टर वी० एन० मेहता आदि और भी कितने ही विद्वानों ने अपने व्याख्यानों द्वारा इस लिपि के प्रचार और विस्तार से होनेवाले उपकारों का वर्णन किया। अन्त में कई प्रतिष्ठित पुरुषों की एक कमिटी बनाई गई। उसका काम यह होगा कि विज्ञापनों, हस्तपत्रों और उपदेशकों के द्वारा देवनागरी लिपि से होनेवाले लाभों को वह सर्वसाधारण को समझावे, भिन्न भिन्न भाषाओं की पुस्तकों को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करावे, अच्छी देवनागरी

लिपि लिखनेवाले विद्यार्थियों को पदक आदि देकर उनके उत्साह को बढ़ावे। जस्टिस कृष्णस्वामी की राय है कि देवनागरी लिपि सर्वोत्तम होने पर भी, भारत में प्रचलित कई एक अन्य भाषाओं के विशेष वर्णोच्चारण की दृष्टि से अपूर्ण है। तामील, तैलंगी और अरबी-फ़ारसी के कई वर्णों का ठीक ठीक उच्चारण इस लिपि के अन्तर्भुक्त वर्णों से नहीं होता। अतएव कुछ ऐसे वर्ण या संकेत बनाये जाने चाहिए जिनसे यह कमी दूर हो जाय। इस अभिप्राय से जो कोई सबसे अच्छे वर्ण-संकेत बनावेगा उसे जस्टिस कृष्णस्वामी पारितोषिक देंगे।

देखिए मद्रास, बंगाल और पंजाब के प्रतिष्ठित पण्डितों का देवनागरी लिपि पर कितना पूज्य भाव है। हमारे प्रान्त के शर्म्मा, वर्म्मा और गुप्त लोगों की, न मालूम, कब आँखें खुलेंगी और कब वे हिन्दी पढ़ना और नागरी लिखना सीखेंगे।

अब हमारे मुसलमान भाइयों की बातें सुनिए। बड़े दिन की छुट्टियों में उन्होंने नागपुर में अपना एक जातीय जलसा किया। उसमें हिन्दी के ख़िलाफ़ और उर्दू की तारीफ़ में बड़ी बड़ी वक्तृतायें हुईं। आप लोग चाहते हैं कि एक सौ एक लड़कों में यदि एक मुसल्मान हो तो उसके लिए उर्दू का एक अलग मदरसा खोला जाय! इनकी सभा में मध्यप्रदेश के कमिश्नर साहब भी पधारे थे। आपने इस हठवाद पर बहुत लम्बी टीका की और समझाया कि इसी दुराग्रह के कारण मुसल्मान शिक्षा में बहुत पीछे पड़े हुए हैं। उन्हें चाहिए कि ऐसे दुराग्रहों को छोड़ दें। उनके लिए उर्दू में शिक्षा देने का

यथासंभव बहुत कुछ प्रबन्ध कर दिया गया है। पर यह नहीं हो सकता कि जिस मध्यप्रदेश में ६६॥ फ़ी सदी हिन्दू और केवल ३॥ फ़ी सदी मुसलमान हैं वहां मुसल्मानों के लिए उर्दू पढ़ाने का अलग प्रबन्ध किया जाय। इस दशा में मुसल्मानों को भी हिन्दी सीखनी चाहिए।

परन्तु इसके दूसरे ही दिन चीफ़ कमिश्नर साहब के उपदेश की उलटी टीका हुई; हिन्दी की निन्दा की गई; मालवीयजी ने कांग्रेस में जो वक्तृता हिन्दी में की थी उसकी हँसी उड़ाई गई; उर्दू सारी भाषाओं की रानी (!) बतलाई गई—"Urdu is the Queen of Languages"। बेहतर होगा, अब अंगरेज़ी गवर्नमेन्ट अपनी भाषा को हटा कर इस रानी को उसकी जगह दे दे। मुसल्मान उर्दू इस लिए चाहते हैं कि उसके बिना उनके धर्म में बाधा पहुंचती है। और हिन्दू! जो हिन्दू उर्दू पढ़ते हैं उनकी धर्म-बुद्धि शायद अधिक निर्मल हो जाती होगी। मुसलमान आनन्द से उर्दू पढ़ें, उसकी शिक्षा के लिए मदरसे खोलें, उसके साहित्य की वृद्धि करें। यदि वे इसीमें अपनी भलाई समझते हैं तो समझा करें, किसीको करना ही क्या है। वे सिर्फ़ इतनी ही उदारता दिखावें कि हिन्दुओं को अपनी भाषा और अपनी लिपि सीखने दें और दोनों भाषाओं और लिपियों का मुक़ाबला करते समय सचाई और यथार्थ-वाद से दूर न जा पड़ें।

लखनऊ से इण्डियन डेली टैलीग्राफ़ नाम का एक दैनिक पत्र, अँगरेजी में, निकलता है। यह पत्र हमारे मुसल्मान

भाइयों का है। पर इसके सम्पादक एक ख़ास विलायती साहब हैं। हिन्दू-मुसल्मानों के मामलों में आप अकसर हिन्दुओं पर आग उगले बिना नहीं रहते। आपने देखा कि कुछ देश-हितैषी सज्जन देवनागरी लिपि के सार्वत्रिक प्रचार का यत्न कर रहे हैं। बस, झट, आपने अपने ५ जनवरी के अंक में एक सम्पादकीय लेख लिख डाला। आपका कहना है कि वर्तमान देवनागर-लिपि अशोक के समय की लिपि से पैदा हुई है। पर अशोक की लिपि सीधी सादी थी। सब लोग उसे आसानी से लिख पढ़ सकते थे। परन्तु आज कल की जो लिपियां उसके आधार पर बनी हैं, वे सब बेतरह क्लिष्ट हैं; उनमें वर्णों और मात्राओं की संख्या बहुत बढ़ गई है; और यही कारण है जो हम लोगों में मूर्खता का इतना अटल राज्य है! और कुछ सुनिएगा? सुनिए। अशोक के समय की पाली लिपि इस देश की उद्भूत नहीं। हम लोगों ने उसे किसी विदेशी लिपि से उधार लिया है और उसे काट-छांट कर अपने मतलब का बनाया है! और कुछ सुनने की इच्छा है? अच्छा, और सुनिए। इलाहाबाद में जो मिंटो-स्तम्भ बननेवाला है उसपर रोमन अक्षरों में एक लेख रहेगा। यही अक्षर सर्वोत्तम हैं। गवर्नमेंट को चाहिए कि एक रायल कमीशन नियत करे और इन रोमन अक्षरों का उलट-फेर करके इन्हें ऐसा बनावे जिसमें ४९ संस्कृत के और १५ फ़ारसी के अतिरिक्त वर्णों का उच्चारण और विलेखन ठीक ठीक इनसे होने लगे। ऐसा हो जाने पर सारे देश में यही रोमन-वर्णमाला प्रचलित कर दी जाय!!!

सुन लिया आपने। ख़ैर, देवनागरी लिपि के पक्षपातियों की मूर्खता का कारण तो उनकी असम्पूर्ण और क्लिष्ट वर्ण-माला है, मुसल्मानों में शिक्षा का जो कई गुना अधिक अभाव देखा जाता है उसका क्या कारण है? फ़ारसी की वर्णमाला तो होगी ही नहीं, क्योंकि यदि यह बात होती तो एडिटर साहब ज़रूर ही वैसा लिख देते। मालूम नहीं, आप इस देश की वर्णमालाओं का कहाँ तक ज्ञान रखते हैं। हमें तो जान पड़ता है कि आप प्रायः कुछ भी उनके विषय में नहीं जानते। जो जानते तो यह कभी न कहते कि हमारी वर्णमाला किसी विदेशी वर्णमाला के आधार पर बनी है। इस विदेशी-आधार-विषयक कल्पना का कई दफ़े खण्डन हो चुका है। लासन, टामस, डासन, कनिंहम आदि ने इस कल्पना को बिलकुल ही निर्मूल बतलाया है। श्याम शास्त्री ने तो इसकी जड़ को बिल-कुल ही उखाड़ फेंका है। परन्तु टेलीग्राफ़ के सम्पादक साहब क्यों इनकी सुनेंगे। वे अपनी मनमानी हाँकने से चूकनेवाले नहीं। इसीसे आप अरबी-फ़ारसी और नागरी लिपि का संहार करा कर रोमन जारी किया चाहते हैं। आपने सोचा होगा कि फ़ारसी लिपि तो सार्वदेशिक होही नहीं सकती, नागरी भी न हो तो अच्छा। हो रोमन, जिसका सार्वदेशिक प्रचार होना शायद गवर्नमेंट भी असम्भव समझती होगी। ख़ैर, जी में आवे सो कहिए :—

"मुखमस्तीति वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी।"

[फरवरी १९११]

३—नई रोमन-लिपि के प्रचार का प्रयत्न।

अभी तक भारत की धर्म्मान्धता, अधार्म्मिकता और मूर्त्ति-पूजा ही की तरफ़ देश और विदेश के कुछ अन्यधर्म्मावलम्बियों का अधिक ध्यान था;, अभी तक वे हिन्दुओं के धर्म्म और सदाचार ही पर आघात करके अपने धर्म्म की श्रेष्ठता की घोषणा करते थे; पर अब उन्होंने अपना क़दम और भी आगे बढ़ाया है। अब वे हमारी लिपि के भी दोष दिखा कर, उसके बदले, संशोधन की हुई अपनी रोमन लिपि का प्रचार करना चाहते हैं। ये लोग जहाँ जहाँ, जिस जिस देश में, जाते हैं, वहाँ वहाँ धर्म्म-प्रचार करते करते क्या क्या लीलायें करते हैं, इसके उल्लेख की ज़रूरत नहीं। उदाहरण के लिए आगरे के उन पादरी साहब का नाम ले लेना ही बस होगा जिन्होंने, कुछ ही समय पूर्व, प्रयाग में सर जेम्स म्यस्टन के उपस्थित रहते, कुछ बातें बहुत ही औदार्य्य-दर्शक कह डाली थीं, जिनके विषय में उन्होंने पीछे से यह भी कहने की कृपा की थी कि मुझे न मालूम था कि मेरी कही हुई बातों की ख़बर अख़बारवालों को लग जायगी। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि सभी पादरी ऐसे होते हैं। नहीं, अनेक ऐसे भी हैं जो दूसरों के धर्म्म, नीति और आचार पर अनुचित आक्षेप किये बिना ही अपने धर्म्म का उपदेश और प्रचार करते हैं।

पादरी जे नोल्स रोमन-लिपि के प्रचार के बड़े पक्षपाती हैं। उन्होंने अपने उद्देश की सिद्धि के लिए लन्दन के "राजपूत हेरल्ड" की शरण ली है *। उसके जून १६१२ के अङ्क में आपका एक लेख निकला है। लेख का नाम है—Reading and Writing in India—अर्थात् भारत में लिखना पढ़ना। यह वही राजपूत-हेरल्ड है, जिसके सम्पादक श्रीमान् ठाकुर श्रीज्यस्सराज सिंह जी सीसोदिया हैं। सीसोदिया जी विलायत-वासी हिन्दुस्तानी हैं और हिन्दुस्तान में "सिविल-सरविस परीक्षा" ली जाने के विरोधी हैं। हिन्दुस्तान के न्याय और शासन-विभागों में बड़े बड़े ओहदे पाने के उम्मेदवारों को विलायत जा कर परीक्षा देनी पड़ती है। भारत के हितचिन्तक चाहते हैं कि यह परीक्षा अपने ही देश में हुआ करे, जिससे अधिक हिन्दुस्तानी बड़े बड़े ओहदों पर नियत हो सकें। पर सीसोदियाजी, कुछ अन्य भारतवासियों की तरह, इसके ख़िलाफ़ हैं। अस्तु।

पादरी साहब को इस बात का बड़ा अफ़सोस है कि

* कलकत्ते के पाक्षिक पत्र कालेजियन (Collegian) में भी पादरी साहब ने अपने वक्तव्य का सारांश प्रकाशित किया है। उसमें आपने यह भी लिखा है कि हमारी वर्त्तमान लिपियां अशोक या ब्राह्मी लिपि से निकली हैं। पर अशोक–लिपि भारतवर्षीय लिपि नहीं। वह बहुत कर के किसी विदेशी लिपि से उत्पन्न हुई है। अतएव भारतवासियों को नई विदेशी लिपि, रोमन, स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए !!!

हिन्दुस्तान में फ़ी सदी केवल १० आदमी साक्षर हैं; शेष ९० फ़ी सदी निरक्षर-भट्टाचार्य हैं। वे कहते हैं कि जो लड़के प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त भी कर लेते हैं वे भी कुछ दिनों में पढ़ा पढ़ाया सब भूल जाते हैं और मूर्ख के मूर्ख रह जाते हैं। स्त्रियां तो प्रायः सभी मूर्ख हैं। फ़ी सदी एक का साक्षर होना गिनती में नहीं आ सकता। यदि शिक्षा का यही ढंग रहा तो भारत की जातीय उन्नति हो चुकी। भारत में २०० के ऊपर भाषायें और बोलियां, तथा ५० से लेकर १०० तक भिन्न भिन्न प्रकार की लिपियाँ, प्रचलित हैं। परन्तु नाम लेने योग्य ("properly so-called") एक भी वर्णमाला नहीं। भारत के अविद्यान्धकार, निरक्षरता और जातीय अवनति का यही कारण है। देश की दशा सुधारने के लिए एक भाषा और एक लिपि की बड़ी आवश्यकता है। अधिकांश भारत में हिन्दुस्तानी (हिन्दी-उर्दू) तो एक भाषा का स्थान प्राप्त कर सकती है। पर एक लिपि के लिए रोमन अक्षरों के प्रचार के सिवा दूसरा इलाज ही नहीं। तथापि वर्तमान रोमन अक्षरों से भारत का काम नहीं चल सकता। अतएव उनमें ऐसा संशोधन होना चाहिए जिससे भारत के सभी प्रान्तों के शब्द-समूह उनमें लिखे जा सकें।

यही पादरी नोल्स साहब के कथन का सारांश है। भारत की निरक्षरता दूर करने के लिए आपने जिस परिवर्तित रोमन-वर्ण-माला का आविष्कार किया है वह यहां पर दी जाती है (चित्र संख्या २ देखिये)। उसमें लिखने और छापने

वर्ण अलग अलग दिये हुए हैं और जो वर्ण देवनागरी के जिस वर्ण की जगह पर है वह भी दे दिया गया है। साथ ही वैदिक संस्कृत का कुछ अंश भी, उदाहरण के तौर पर, इस सुधरी हुई रोमन-लिपि में लिख कर बताया गया है।

नोल्स साहब की राय है कि कुछ विद्वानों की एक कमिटी बना दी जाय। उसमें भारतवासी विद्वान् भी शामिल किये जाँय। वे लोग इस विषय पर विचार कर के अपनी रिपोर्ट दें। फिर गवर्नमेंट इस सुधरी हुई रोमन-वर्णमाला को स्कूलों और कचहरियों में जारी कर दे। परन्तु इस विषय को वह ऐच्छिक रखे। अर्थात् जिसका जी चाहे इन अक्षरों में लिखे पढ़े, जिस का जी न चाहे वह अन्य प्रचलित अक्षरों से काम ले। ऐसा करने से, पादरी साहब की राय है, कि कुछ ही कालोपरान्त भारत में सर्वत्र साक्षरता का साम्राज्य हो जायगा। एक भी कुटुम्ब—नहीं, कुटम्ब का एक भी मनुष्य—निरक्षर न रहेगा।

अच्छा, अब पादरी साहब की दलील को तर्क की कसौटी पर कसिए। इसमें सन्देह नहीं कि अच्छी लिपि या वर्ण-माला न होने से शिक्षा-प्रचार में रुकावट होती है, परन्तु यह रुकावट क्या रोमन अक्षरों के प्रचार ही से दूर हो सकती है? और किसी तरह नहीं हो सकती?

इंगलैंड में रोमन अक्षरों ही का प्रचार है और हज़ारों वर्ष से है। क्या पादरी साहब वहां की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट या किसी और सरकारी किताब से इस बात का प्रमाण

दे सकते हैं कि वहाँ की साक्षरता रोमन-अक्षरों ही की कृपा का फल है? व्याकरण और उच्चारण के विचार से अंगरेज़ी भाषा बहुत ही दोष-पूर्ण और अस्वाभाविक है। पादरी साहब का नाम—Knowles है। परन्तु हम जैसे अल्पज्ञ विदेशी उसका उच्चारण कनाल्यस, क्नैाल्यस, नाउल्यस, नौल्स, नोयल्यस, नावल्यस, नोल्स आदि एक नहीं दस बारह तरह कर सकते हैं। परन्तु, फिर भी, इस बात का विश्वास नहीं होता कि इनमें से कोई उच्चारण सही भी है या नहीं। जिस भाषा में 'But' का उच्चारण 'बट' 'Put' का 'पुट' होता है वह कभी स्वाभाविक, निर्दोष और सहज-बोध-गम्य होने का दावा नहीं कर सकती। परन्तु जिस इंगलैंड में ऐसी दोषपूर्ण और अगड-बगड भाषा प्रचलित है उसकी साक्षरता क्यों इतनी बढ़ी चढ़ी है? जिस की वर्णमाला भी सदोष, जिसकी भाषा भी सदोष वह इंगलैंड तो शिक्षा के शिखर पर आरूढ़ हो जाय। पर जिस भारत में देवनागरी के सदृश प्रायः निर्दोष वर्णमाला और हिन्दी के सदृश प्रायः निर्दोष भाषा प्रचलित हो उसमें शिक्षा-प्रचार की वृद्धि के लिए नये रोमन अक्षरों के प्रचार की आवश्यकता बताई जाय? किमाश्चर्य्यमतः परम्!

योरप में प्रायः सर्वत्र ही रोमन अक्षरों का प्रचार है। परन्तु क्या योरप के सभी देश एक ही से साक्षर हैं? क्या रूस का साइबेरिया और काकेशिया प्रान्त उतना ही शिक्षित है जितना कि इंगलैंड, या जर्मनी, या फ्रांस शिक्षित है? यदि नहीं, तो यह कहां सिद्ध हुआ कि अच्छी वर्णमाला होने ही से

कोई देश शिक्षा में सर्वोन्नत हो सकता है? इससे तो यही सिद्ध होता है कि शिक्षोन्नति के और भी कोई कारण हैं।

अच्छा, योरप को जाने दीजिए। जापान को लीजिए। वहां तो रोमन-लिपि का प्रचार नहीं? वहां की लिपि तो देवनागरी और रोमन दोनों ही से बदतर है न? फिर वहां भारत की अपेक्षा शिक्षा का अधिक प्रचार क्यों है? पादरी साहब इसका क्या जवाब रखते हैं?

अपने ही देश का एक उदाहरण क्यों न ले लीजिए। मध्य-प्रदेश में देवनागरी लिपि का प्रचार है और बङ्गाल में बँगला का। बँगला लिपि देवनागरी से अच्छी नहीं। वङ्ग-भाषा में उच्चारण-सम्बन्धी दोष भी है। पर मध्य-प्रदेश की अपेक्षा बङ्गाल अधिक शिक्षित है। यह क्यों? इससे तो उल्टा यह साबित होता है कि सदोष लिपि और सदोष भाषावाले प्रान्त ही शिक्षा में अधिक उन्नति करते हैं। मदरास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

पादरी साहब जिसे "National Progress" (जातीय या राष्ट्रीय उन्नति) कहते हैं उसका रोमन अक्षरों से क्या सम्बन्ध, यह समझ में नहीं आता। अपना वस्त्र-परिच्छद, अपना धर्म, अपनी भाषा और अपनी लिपि के स्वीकार से राष्ट्रीय उन्नति को सहायता पहुँचती है या बहिष्कार से यदि बहिष्कार से, तो नोल्स साहब कुछ ऐसे उदाहरण देने की कृपा करें जिनसे यह प्रमाणित हो कि योरप के किन किन देशों में इस तरह के बहिष्कार किये गये हैं। क्योंकि योरप आज-

कल अधिक सभ्य और शिक्षित गिना जाता है। जिस तरह उसने शिक्षा की प्राप्ति की होगी उसी तरह हम भी करने को तैयार हैं।

मान लीजिए कि हमारे प्रान्त में यह सुधरी हुई रोमन-लिपि-माला कचहरियों और स्कूलों में जारी कर दी गई और कह दिया गया कि जिसका जी चाहे इसे सीखे और इसीमें लिखे पढ़े। आप जानते हैं, इसका क्या फल होगा। कुछ दिनों में अरबी और नागरी, दोनों लिपियों को अर्द्धचन्द्र मिल जायगा, क्योंकि अंगरेज़ अफसर इसी लिपि को सहज में लिख पढ़ सकेंगे। इसी कारण स्वभावतः वे इसीको पसन्द करेंगे। हाकिमों के सुभीते के लिए वकील, मुख़्तार, अर्ज़ीनवीस इत्यादि इसीसे काम लेने लगेंगे। जब इस प्रकार कचहरियों में इस लिपि का प्रायः आधिपत्य हो जायगा, तब देवनागरी और अरबी लिपि का कितना आदर होगा? यदि यह सुधरी हुई वर्णमाला जारी हो जायगी तो लोगों को इसे भी सीखना पड़ेगा। जिस वर्त्तमान रोमन-लिपि में अँगरेजी लिखी जाती है उसे तो सीखना ही पड़ेगा। और, अपना अपना धर्म-कर्म जानने के लिए हिन्दुओं को देवनागरी और मुसलमानों को अरबी लिपि का भी अभ्यास करना होगा। अर्थात् अभी तक तीन ही लिपियां, इन प्रांतों में, प्रचलित हैं। पादरी साहब की बदौलत यदि एक और भी प्रचलित हो गई तो चार हो जायंगी। जब तीन सीखना पड़ती हैं तब तो शिक्षा का यह हाल है, चार हो जाने पर उसके प्रचार और विस्तार का क्या कहना है। सो यह नई

वर्णमाला शिक्षा-प्रचार के मार्ग को प्रशस्त तो करेगी नहीं; उसमें बबूल के काँटे अवश्य बखेरेगी। पादरी साहब, रहने दीजिए आप अपना यह कारुण्य-कोलाहल।

रही यह बात कि रोमन-लिपि में भारतीय भाषायें शुद्ध शुद्ध लिखी जा सकती हैं या नहीं, सो अनेक विद्वान् अनेक लेखों द्वारा इस लिपि के दोष दिखला चुके हैं और यह सिद्ध कर चुके हैं कि इसके प्रचार से हमारा काम नहीं चल सकता। न हमारी भाषायें वर्तमान रोमन-लिपि ही में अच्छी तरह लिखी जा सकती हैं और न इस परिवर्तित लिपि ही में। नोल्स साहब की वर्णमाला में कहीं 'हल' का चिह्न नहीं। "ज्योतिर्गमय" को आपने अपनी लिपि में "Jyotir gamaya" लिखा है। पर आपका—r—र का बोधक है, र् का नहीं। आपने तो शायद वैदिक संस्कृत का एक छोटा सा उदाहरण यह दिखलाने के लिए दिया है कि वेद तक हमारी लिपि में लिखे जा सकते हैं; पर उन दो चार शब्दों को भी आप सही सही नहीं लिख सके। वैदिक संस्कृत में एक वर्ण ॡ है। उसका स्थानग्राही कौन सा वर्ण रोमन में होगा? अच्छा, उदात्त और अनुदात्त के सूचक चिह्न आपकी लिपि में कहां हैं? ज्ञ का उच्चारण कोई ग्यं करता है, कोई द्+न्+य, कोई ज् यँ। इन सब उच्चारणों के बोधक वर्ण अपनी लिपि में बताइए। और भाषाओं की बात जाने दीजिए, आप अपनी लिपि में सही सही संस्कृत ही लिख कर दिखा दीजिए। यदि आप यह सिद्ध भी कर दें कि अपनी लिपि में आप सब कुछ लिख सकते हैं तो भी हम अपनी ही लिपि

में लिखना पढ़ना पसन्द करेंगे। अपनी वस्तु का आदर करना स्वयं आप ही की जाति हमें सिखा रही है। आपकी पोशाक आप ही के शीत-प्रधान देश के अनुकूल है। पर आप उसे कोटा और जैकबाबाद में भी नहीं छोड़ते। ११५ दर्जे की गरमी में भी फुल बूट, मोज़े डबल पतलून और दो दो तीन तीन मोटे ऊनी कपड़े डाँटे रहते हैं। उस समय आप उपयोगिता और अनुपयोगिता का ख़याल क्यों नहीं करते? सो आपकी लिपि आप ही को मुबारक रहे। हमारा काम हमारी दोष-पूर्ण लिपि ही से अच्छी तरह चल जायगा।

श्रीमन्, यदि हमारी मूर्खता लिपिपरिवर्त्तन ही से दूर हो जाती तो शिक्षा-विभाग के किसी भी अधिकारी के मन में तो यह बात आती। आपने तो बोर्ड आफ एजुकेशन की रिपोर्टें पढ़ी हैं। डाइरेक्टर जेनरल आव इजुकेशन की रिपोर्टें पढ़ी हैं, गवर्नमेंट की ऐडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्टें पढ़ी हैं—किसीमें आपके बताये हुए इलाज का उल्लेख है? क्या आप नहीं जानते कि भारत की निरक्षरता का क्या कारण है? क्या ये जो सरकारी रिपोर्टें और रेज़ोल्यूशन्स निकलते हैं उनमें इस निरक्षरता का कारण सविस्तर नहीं लिखा रहता? फिर आप यह एक नया अड़ङ्गा क्यों लगाने की चेष्टा कर रहे हैं? आप विद्वान् हैं, अत एव आप पर हम गज-निमीलना का दोषारोप नहीं कर सकते। आप ही बताइए, बात क्या है? लिपि और भाषा चाहे कितनी ही सरल, सुबोध और निर्दोष क्यों न हो, यदि शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न किया जायगा तो मूर्खता

दूर हो कैसे सकेगी? यदि आप ही की आविष्कृत लिपि का प्रचार हो जाय तो क्या प्रचार की आज्ञा निकलते ही भारत की निरक्षरता नष्ट हो जायगी? कोस भर दूर षट्रस भोजन रख देने से क्या भूखे की भूख कभी जा सकती है? स्कूलों और कालेजों में भरती होने की इच्छा रखनेवाले लड़कों को, जगह की कमी बता कर, निकाल देने से निरक्षरता नहीं दूर हो सकती।

निरक्षरता दूर होगी गाँव गाँव में स्कूल खोलने और शिक्षा के लिए अधिक रुपया ख़र्च करने से। सम्राट् से ले कर साधारण सरकारी अफसर तक इस बात को जानते हैं। शिक्षा-प्रचार के लिए यदि काफ़ी रुपया ख़र्च किया जाय और शिक्षा की प्राप्ति अनिवार्य्य कर दी जाय तो देखिए फिर भारत की निरक्षरता कितने दिन टिकती है। पादरी साहब, यदि आप भारत के सच्चे शुभचिन्तक हैं और उसकी निरक्षरता से आप के दिल पर सचमुच ही चोट लगी है, तो नई रोमन-लिपि के आविष्कार और प्रचार की चेष्टा छोड़ दीजिए। चेष्टा इस बात की कीजिए जिससे प्रारम्भिक पाठशालाओं की संख्या की वृद्धि हो और सरकार इस समय शिक्षाप्रचार के लिए जितना रुपया ख़र्च करती है उससे अधिक ख़र्च करे। यह आपको मंज़ूर न हो तो मुनिव्रत ही धारण किये रहिये। हम इसीको अपनी बहुत बड़ी सहायता समझेंगे।

यहां पर हम अपने मुसलमान भाइयों से एक प्रार्थना करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि वे पादरी साहब के उस

लेख को एक बार पढ़ लें जो "राजपूत हेरल्ड" में प्रकाशित हुआ है। उससे उन्हें मालूम हो जायगा कि उनकी अरबी लिपि को पादरी साहब यहां की सार्वदेशिक लिपि होने योग्य नहीं समझते। इस दशा में, यदि वे हिन्दुस्तान को अपना देश समझते हों तो देवनागरी-लिपि को उन्हें भी आश्रय देना चाहिए, नहीं तो देवनागरी भी जायगी और अरबी-फ़ारसी भी। उनकी जगह रोमन ले लेगी, जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों, के लिए बड़े ही दुःख की बात होगी।

[जुलाई १९१३]

४—देशव्यापक भाषा ।

(१)

विषय-प्रवेश ।

कुछ दिनों से दो एक सज्जनों का मन देश में एक भाषा करने की ओर आकर्षित हुआ है। पहले पहल पण्डित वामन राव पेठे ने एक लेख, इस विषय पर, मराठी में लिख कर प्रकाशित किया। उस पर दक्षिण के अनेक विद्वानों और समाचारपत्रों ने अनुकूल सम्मति दी। पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने उस लेख का हिन्दी में अनुवाद किया। यह अनुवाद नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के तीसरे भाग में छपा है। यह लेख पढ़ने योग्य है। इस लेख ने कुछ लोगों के हृदय में देश में एक भाषा होने की आवश्यकता का बीज अंकुरित कर दिया। मराठी और गुजराती के समाचारपत्रों में, कभी कभी, इस विषय पर लेख निकलने लगे। एक आध मराठी और गुजराती समाचारपत्र ने तो मराठी और गुजराती के साथ साथ हिन्दी के लेख भी प्रकाशित करना स्वीकार किया। ये सब शुभ लक्षण हैं। परन्तु ये शुभ लक्षण केवल महाराष्ट्र और गुजरात ही के विद्वानों ने दिखलाये हैं। विद्यानुराग में बढ़ा हुआ वङ्गदेश अभी तक बिलकुल चुप है। जहां तक हम जानते हैं, इस सम्बन्ध में, किसी वङ्गवासी ने चकार तक नहीं

लिखी। आशा है, वे, इस मौनावलम्बन को छोड़ कर, वङ्गदेश में भी, देश में एक भाषा होने के लाभालाभ का विचार लोगों के मन में जागृत करेंगे।

बरोदा से "श्रीसयाजी-विजय" नामक एक समाचारपत्र निकलता है। उसकी भाषा मराठी है। वह मराठी के अच्छे समाचारपत्रों में से है। कुछ काल हुआ उसमें "हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा" नामक एक लम्बा लेख कई अंकों में निकला था। उसे पण्डित भास्कर विष्णु फड़के ने जयपुर से लिखा है। यह लेख पढ़ने योग्य है; विचार करने योग्य है। वामनराव पेठे के समान भास्कर राव फड़के ने भी इस देश में एक भाषा होने की बड़ी आवश्यकता दिखाई है। देश-व्यापी भाषा होने के योग्य उन्होंने अपनी मातृभाषा मराठी को नहीं बतलाया; और न गुजराती ही को बतलाया। वङ्गभाषा को भी उन्होंने इस योग्य नहीं समझा! स्मरण रखिए, ये तीनों भाषायें इस देश में, इस समय, बहुत अच्छी अवस्था में हैं; उन्नत हैं; प्रतिदिन अधिक अधिक उन्नत होती जाती हैं, और यथाक्रम एक दूसरेसे अधिक ऊर्जित दशा में हैं। यद्यपि ये भाषायें इतनी उन्नत हैं, तथापि पूर्वोक्त पण्डितों ने इनको देश भर की भाषा होनेकी योग्यता से ख़ाली पाया है! देशव्यापक भाषा होने की योग्यता उन्होंने पाई किसमें है? हिन्दी में! वही हिन्दी, जिसे इन प्रान्तों के प्रवीण पण्डित और विद्वान् बाबू लोग निरादर की दृष्टि से देखते हैं; जिसमें छपे हुए समाचारपत्र पढ़ना वे पातक समझते हैं; जिसमें अपना

नाम लिखने की बहुत ही बड़ी आवश्यकता पड़ने पर वे "बशेशर-परशाद" और "किकन-सरूप" आदि लिख कर अपनी मातृ-भाषा के प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाते हैं! जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी है; जो अपनी माता से, जो अपनी स्त्री से, जो अपने लड़के लड़कियों से हिन्दी बोलते हैं; और जो हिन्दी ही में स्वप्न देखते हैं, उनको मानो लज्जित करने ही के लिए अथवा धिक्कारने ही के लिए, आगरा, इलाहाबाद और बनारस से सैकड़ों कोस दूर दूर बसनेवाले महाराष्ट्र और गुजरात देश के पण्डितों ने हिन्दी की महिमा गाई है! धन्य उनकी सत्य-प्रीति और उदारता! और धिक् हिन्दी बोलनेवालों की कृतघ्नता!

पण्डित भास्कर विष्णु फड़के का लेख बहुत उपयोगी है। जिनकी भाषा हिन्दी है उनके लिए वह विशेष उपयोगी है; पढ़ने योग्य है; मनन करने योग्य है। इसलिए, हम, भास्कर-राव के लेख के आधार पर यह लेख लिख रहे हैं।

देशव्यापक भाषा की आवश्यकता।

वाणी और अर्थ का जो सम्बन्ध है; जल और तरङ्ग का जो सम्बन्ध है; शरीर और आत्मा का जो सम्बन्ध है—देश और देशत्व का वही सम्बन्ध है। देश का जो धर्म्म है, देश का जो गुण है, देश का जो भाव है उसीको देशत्व कहते हैं। जिसके बिना देश कोई चीज़ ही नहीं रह जाता वही देशत्व है। आत्मा के बिना शरीर मिट्टी है; अर्थ के बिना वाणी मिट्टी है; देशत्व के बिना देश भी मिट्टी है। जिस देश से देशत्व निकाल

लिया गया है वह देश केवल देखने अथवा केवल कहने के लिए देश है। उसमें सार नहीं। आत्मा-हीन शरीर प्रेत कहलाता है। देशत्वहीन देश भी प्रेत-तुल्य है। जिस शरीर में चेतना है; जिसमें नाना प्रकार के विकार अपनी अपनी सत्ता चला रहे हैं; जिसे सुख दुःख का ज्ञान है—अर्थात् जो सजीव है—उसीको शरीर संज्ञा दी जा सकती है। इसी प्रकार जिस देश में देशाभिमान है, देशप्रीति है, देशभक्ति है, देशसेवा है, उसी का नाम देश है। जिसमें देशाभिमान नहीं है; जिसमें आत्मभिमान नहीं है; जिसमें रहनेवाले स्वार्थत्याग को बिलकुल ही भूल गये हैं और अपने पूजनीय पूर्वजों का आदर करना जानते ही नहीं; जहां ऐक्य नहीं; जहां प्रेम नहीं; जहां एक भाषा नहीं; जहां एक धर्म्म नहीं; वह देश चाहे जितना विस्तीर्ण हो; उसकी लोक-संख्या चाहे जितनी अधिक हो; वह देशत्व-युक्त देश कदापि नहीं कहा जा सकता। वह देशत्व-पद को त्रिकाल में भी नहीं प्राप्त कर सकता। वह चेतनाहीन शरीर के समान निश्चेष्ट, निष्क्रिय, हेय और घृणा का पात्र है।

देश को देशत्व प्राप्त होने के लिए विशेष करके दो बातें दरकार होती हैं। एक भाषा, दूसरा धर्म्म। अर्थात् जिस देश में सर्वत्र एक ही भाषा और एक ही धर्म्म प्रचलित है वही देश देशत्वयुक्त है। अर्थात् देश को सजीव रखने के लिए एक भाषा और एक धर्म्म की प्रधान आवश्यकता रहती है। इन दो बातों की सहायता से, देश में देशत्व उत्पन्न करने के लिए

अच्छे अच्छे कवि, लेखक, धार्म्मिक, तत्ववेत्ता, वक्ता, और विज्ञानी आदि विद्वानों की आवश्यकता होती है। क्योंकि बिना इनके देश में देशत्व नहीं आ सकता। करोड़ों स्वाभिमान-हीन, निरुद्यमी, मूर्ख और अशिक्षित लोगों की अपेक्षा दस पाँच विद्वान्, चतुर, देशभक्त और आत्माभिमान पूर्ण पुरुषों ही से देश में अधिक सजीवता आती है। ऐसे ही पुरुषों को अपने देश का देशत्व सजीव रखने का प्रयत्न, उचित उपायों द्वारा, करना चाहिए।

देश में चेतनता और एका बना रखने किंवा उत्पन्न करने के लिए परस्पर प्रीति और सहानुभूति की बड़ी आवश्यकता होती है। देशप्रीति को जागृत और सहानुभूति को उत्पन्न करने के लिए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, एक भाषा और एक धर्म्म होने की बड़ी जरूरत है। इस विस्तीर्ण भारतवर्ष में एक धर्म्म होने की आशा नहीं। सबका एक धर्म्म हो जाना बिलकुल असम्भव जान पड़ता है। हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, क्रिश्चियन, जैन आदि धर्म्मों को मेट कर एक धर्म्म कर देना महा कठिन काम है। इस समय तो ऐसा ही जान पड़ता है। आगे की ईश्वर जाने। परन्तु सबकी भाषा एक हो जाना असम्भव नहीं। भाषा एक हो सकती है। उसके एक हो जाने से देश का परम कल्याण हो सकता है। अतएव धर्म्म की बात छोड़ कर भाषा ही की बात हम इस लेख में कहना चाहते हैं।

इस देश के उत्तर में दो भाषायें प्रधान हैं—हिन्दी और

बङ्गला। उर्दू हिन्दी ही की एक शाखा है। दक्षिण में चार भाषायें प्रधान हैं—मराठी, गुजराती, कनारी और तामील। इनके सिवा और भी कई भाषायें हैं, परन्तु उनमें परस्पर कम भेद है। उन्हें इन्हीं भाषाओं के अन्तर्गत समझना चाहिए। यों तो थोड़ी थोड़ी दूर पर भाषा (बोली) बदल गई है। बुंदेलखण्ड की हिन्दी एक प्रकार की है; विहार की दूसरे प्रकार की, और अवध की तीसरे ही प्रकार की। ये भेद कोई भेद नहीं। इन्हें भाषा के भेद न कह कर बोली के भेद कहना चाहिए। यह बात इसी देश में नहीं, और देशों में भी पाई जाती है। ग्रेट ब्रिटेन की भाषा अङ्गरेज़ी है। परन्तु इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड में बोली जानेवाली भाषा में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है। यह अन्तर कोई अन्तर नहीं। आचार, विचार और स्थिति में अन्तर पड़ने से भाषा में भी अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यह समझ कर ही हमको चुप न रहना चाहिए। हमको इसका विचार करना चाहिए कि एक भाषा होने से देश को अधिक लाभ है अथवा अनेक भाषायें होने से अधिक लाभ है।

देश में एक भाषा न होने से सब लोगों में परस्पर प्रीति कभी नहीं उत्पन्न हो सकती। भिन्न भिन्न भाषा बोलनेवाले अपने विचार और अपनी सुख-दुःख की बातें दूसरोंसे नहीं कह सकते। बङ्गालियों को मराठी नहीं समझ पड़ती, पञ्जाबियों को तामील नहीं समझ पड़ती, गुजरातियों को कनारी नहीं समझ पड़ती, और महाराष्ट्रों को बङ्गला भाषा नहीं समझ

पड़ती। इस लिए ये लोग परस्पर के विचार परस्पर को नहीं समझा सकते, और अपने सुख:दुःख की बातें नहीं कह सकते। और जब तक ऐसा न होगा तब तक महाराष्ट्रों को बँगालियों पर प्रेम न होगा और बँगालियों को महाराष्ट्रों अथवा गुजरातियों अथवा इन प्रान्तों के निवासियों पर प्रेम न होगा। प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न होने के लिए एक दूसरेकी बात समझने की सब से बड़ी आवश्यकता है। एक देश में रह कर भी, भाषा भिन्न होने के कारण हम लोग एक दूसरेसे अपरिचित हो रहे हैं। ए मदरासी जब प्रयाग आता है तब वह समझता है कि वह किसी दूसरी बिलायत को पहुंच गया। इसी प्रकार जब कोई इधर का निवासी रामेश्वर की यात्रा के निमित्त वहां जाता है तो मद्रास में प्रायः वही कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं जो अमेरिका अथवा जापान जाने से उसे उठानी पड़ती। इसका कारण क्या है? इसका कारण है यही कि हम सबकी भाषा एक नहीं।

भरतखण्ड-रूपी शरीर के बङ्गाली, मदरासी, महाराष्ट्र, गुजराती, पञ्जाबी और राजपूत आदि अवयव हैं। जैसे शरीर का बल, तेज और आरोग्य अवयवों की सुस्थता पर अवलम्बित रहता है वैसे ही देश का देशत्व उसमें रहनेवालों की परस्पर सहानुभूति और प्रीति पर अवलम्बित रहता है। एक अवयव पर यदि कोई संकट आता है तो सब अवयव उसे टालने का यत्न करते हैं, क्योंकि ये सब एक ही शरीर से सम्बन्ध रहते हैं। इसी नियमानुसार हम सबको चाहिए कि यदि अपने किसी देश-बान्धव पर कोई कष्ट आवे तो हम सब उसके निवारण के

लिए एकत्र हो कर प्रयत्न करें। इस एकत्र होने ही, इस एका करने ही में देश का बल है, इसीमें देश का उत्कर्ष है, इसीमें देश का कल्याण है। शेख़ सादी ने क्या ही अच्छा कहा है—

बनी आदम आज़ाय यक दीगरन्द।
के दर आफ़रीनिश ज़ि यक जौहरन्द॥
चु अज़वे बदरद आवरद रोज़गार।
दिगर अज़वहारा न मानद क़रार॥
तु गर मेहनते दीगरां बेग़मी।
न शायद के नामत नेहन्द आदमी॥

अर्थात् ब्रह्मा की सारी सृष्टि परस्पर अवयव के समान है; क्योंकि सबकी उत्पत्ति एक ही तत्व से है। यदि एक अवयव को पीड़ा पहुंचती है तो दूसरे अवयव भी घबड़ा उठते हैं। इसलिए यदि तू दूसरेके दुःख से दुःखित न हुआ तो तू मनुष्य कहलाये जाने के योग्य ही नहीं। इसमें 'आदम' और 'आदमी' ये दो शब्द ध्यान में रखने योग्य हैं।

देश के काम-काज भाषा ही के द्वारा होते हैं। यदि भाषा न हो तो सहसा सब व्यापार बन्द हो जायं। यन्त्रिन चलाने के लिए जैसे भाफ की आवश्यकता है, देश के काम-काज चलाने के लिए वैसे ही भाषा की आवश्यकता है। भाषा ही देश के कार्य-कलाप चलाने की प्रधान शक्ति है। भारतवर्ष के भिन्न २ प्रान्तों में रहनेवाले, जब एक सर्वसाधारण भाषा के द्वारा अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट कर सकेंगे तभी देश की दशा सुध-

रहेगी। अन्यथा नहीं। देश में देशत्व उत्पन्न करने के लिए एक भाषा का होना ही प्रधान साधन समझना चाहिए।

जो भाषा गांव में, नगर में, घर में, सभा-समाज में और राज-दरबार में, सब कहीं, काम आती है वही देश-व्यापक भाषा है। हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक एक ऐसी भाषा नहीं है जिसके द्वारा सब लोगों के विचार प्रकट किये जा सकें, जो देश की सञ्चालक शक्ति हो; जिसकी सहायता से प्रजा मात्र के व्यवहार चलें। इस अभाव के कारण हमारी बड़ी हानि हो रही है। यदि यथा-समय योग्य उपायों के द्वारा यह अभाव न दूर कर दिया गया तो हमारी हानि होती ही चली जायगी और बहुत होगी। एक भाषा होने का प्रभाव विलक्षण होता है। बहुत भारी असर होता है। उससे मनुष्यों के हृदय में यह वासना जाग्रत हो उठती है कि हम सब एक हैं; यह देश हमारा ही है; इसकी उन्नति के लिए प्रयत्न करना हमारा धर्म्म है; देश का हित ही हमारा हित है। देश के हित को केन्द्र समझ कर जब सब लोग अपने हित की चिन्तना करते हैं, तभी देश का कल्याण होता है और तभी प्रजा का भी कल्याण होता है। एक भाषा न होने से सच्चा देशाभिमान कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। परस्पर एका कभी नहीं उत्पन्न हो सकता; परस्पर प्रेमभाव भी कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। इसीलिए एक देशव्यापक भाषा की परम आवश्यकता है।

व्यापक भाषा होने के लिए हिन्दी की योग्यता।

इस देश की भाषायें दो भागों में विभक्त हैं। एक आर्य्य-

भाषा, दूसरी द्राविड़ भाषा। आर्य्य भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से है। परन्तु द्राविड़ भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं। जिस समय आर्य्यों ने इस देश में पैर रक्खा और क्रम क्रम से इसे पादाक्रान्त करते हुए और यहां के प्राचीन निवासियों को हटाते हुए वे गङ्गा यमुना के मध्यवर्ती देश तक पहुँचे, उस समय उनकी भाषा संस्कृत थी। उसके बहुत काल पीछे तक भी उनकी भाषा संस्कृत ही रही। परन्तु ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते गये और ज्यों ज्यों वे परस्पर एक दूसरे वृन्द से दूर होते गये त्यों त्यों देश और काल के अनुसार उनके व्यवहार में अन्तर होता गया और भाषा भी उनकी बदलती गई। यह अन्तर धीरे धीरे बढ़ता गया। यहां तक कि कुछ दिनों में प्रत्येक वृन्द की भाषा और व्यवहार ने एक नया ही रूप धारण किया। एक दूसरेकी भाषा में इतना भेद हो गया कि उसकी एकरूपता बहुत कुछ नष्ट हो गई। साधारण रीति पर देखने से यह न जान पड़ने लगा कि भिन्न भिन्न लोगों की भाषाओं का मूल एक ही है। परन्तु प्रकृति, प्रत्यय, संज्ञा और क्रिया आदि का विचार करने से यह बात तत्काल ध्यान में आ जाती है कि यद्यपि, प्रत्येक प्रान्त में, इस समय भिन्न भिन्न भाषायें बोली जाती हैं, तथापि सारी आर्य्य भाषायें संस्कृत ही से निकली हैं। किसी का अधिक रूपान्तर हो गया है, किसीका कम; परन्तु सबका उद्भव एक ही स्थान से है। जिनकी मूल भाषा संस्कृत थी उन आर्य्यों का प्रधान वृन्द चिरकाल तक उस प्रदेश में रहा जिसमें हम लोग इस समय रहते हैं—वह प्रदेश जो गङ्गा और यमुना के

बीच में है। जैसे जैसे अर्य्यों की वृद्धि होती गई तैसे तैसे उन्होंने इसी प्रदेश से आगे पैर बढ़ाया। अतएव यह कहना चाहिए कि इस प्रदेश के निवासियों की भाषा आर्य्यों की मूल भाषा संस्कृत से अधिक निकट सम्बन्ध रक्खेगी। और मूल भाषा से विशेष सम्बन्ध होने के कारण दूसरी भाषाओं से भी वह थोड़ी बहुत समता भी अवश्य ही रक्खेगी। यह कौन भाषा है? यह वही भाषा है जिसे इन प्रान्तों के निवासी प्रायः निरादर की दृष्टि से देखते हैं। इसीका नाम "हिन्दी" है। अतएव यदि इस देश में, कोई देशव्यापक भाषा हो सकती है तो हिन्दी ही हो सकती है।

[सितम्बर १९०३

---

(२)

संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना और विहार की भाषा हिन्दी है। पञ्जाब में जो भाषा बोली जाती है वह भी हिन्दी ही है, क्योंकि उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह हिन्दी ही की एक शाखा है। हिन्दी और उर्दू का व्याकरण एक ही है। फ़ारसी और अरबी के शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू उन लोगों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकती जिनको इन दोनों भाषाओं के शब्दों का थोड़ा बहुत ज्ञान नहीं है। उर्दू की यदि यह कठिनता निकाल दी जाय तो उसमें और बोलचाल की

साधारण हिन्दी में कुछ भी अन्तर न रहे। इसलिए उर्दू को हिन्दी ही समझना चाहिए। मुसल्मान नागरी अक्षरों के विरोधी हैं, परन्तु यदि वे इस देश को अपना देश समझते हैं और इसमें सजीवता लाकर हिन्दुओं के साथ साथ अपना भी कल्याण करना चाहते हैं तो उनको विरोध छोड़ देना चाहिए। दस ही पन्द्रह दिनों में वे नागरी अक्षर सीख सकते हैं और उन अक्षरों में छपी हुई सरल पुस्तकें और समाचारपत्र पढ़ सकते हैं। इन प्रान्तों के मदरसों में तो गवर्नमेंट ने फारसी अक्षरों के साथ नागरी अक्षर भी सिखलाये जाने का नियम कर दिया है। अतएव मुसलमानों को नागरी अक्षर पढ़ने और शुद्ध हिन्दी बोलने तथा लिखने में अब बहुत ही कम कठिनाई पड़ेगी।

हिन्दुस्तान के उत्तर में केवल दो ही भाषायें प्रधान हैं। एक हिन्दी, दूसरी बँगला। बँगला भाषा बंगाल के निवासी बोलते हैं। यह भाषा मैथिली भाषा से मिलती है, और मैथिली भाषा हिन्दी ही है, कोई पृथक भाषा नहीं। बँगला में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य्य है। इस लिए हिन्दी जाननेवालों को उसे सीखने में कम प्रयास पड़ता है। बँगला के क्रियापद और विशेष विशेष संज्ञायें जान लेने ही से हिन्दीवाले उसे भली भांति समझ सकते हैं। अतएव जब हिन्दी जाननेवालों के लिए बँगला इतना सरल है तो बंगालियों के लिए हिन्दी और भी सरल होनी चाहिए और वह है ही सरल। बँगाल के निवासी मध्यप्रान्त, मध्यभारत, बिहार और पञ्जाब आदि में भरे पड़े हैं। उनको सर्वदा हिन्दी बोलनेवालों से काम पड़ता है। वे खूब हिन्दी बोल

सकते हैं। जो लोग बंगाल से बाहर नहीं आये उनकी भी समझ में हिन्दी आ जाती है। क्योंकि क्रियापदों को छोड़ कर हिन्दी और बंगला में और कोई विशेष भेद नहीं। उड़ीसा की भाषा उड़िया कहलाती है। वह बँगला ही की एक शाखा है। इस लिए उसके विषय में अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं। यदि कोई उड़िया दूसरे प्रान्तों में यात्रा के लिए निकलता है तो उसे हिन्दी ही से काम पड़ता है। वह चाहे हिन्दी न बोल सके; परन्तु दूसरे प्रान्तवाले उससे हिन्दी ही में बातचीत करते हैं। उड़िया लोगों ही की नहीं, और प्रान्तवालों की भी परित्राता हिन्दी ही है। महाराष्ट्र, गुजरात, तैलङ्ग और द्रविड़ आदि प्रदेशों के रहनेवाले जब भिन्न भाषा बोलनेवाले प्रान्तों को जाते हैं तब उनको हिन्दी ही से काम पड़ता है। हिन्दी ही उनकी सहायक होती है। अतएव सबको सहायता देनेवाली यह दया-मयी हिन्दी ही देशव्यापक भाषा होने के योग्य है। उसे दस करोड़ मनुष्य बोलते हैं और कोई दस ही करोड़ समझ सकते हैं। शेष दस करोड़ उसे थोड़े ही प्रयास में सीख सकते हैं। जिस भाषा को इस विस्तृत देश के दो तिहाई लोग समझ सकें उसके देशव्यापक होने की योग्यता के विषय में और अधिक प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है?

हिन्दुस्तान के दक्षिण में चार भाषाओं की प्रधानता है—मराठी, गुजराती, कनारी और तामील। इनमें से मराठी भाषा हिन्दी से बहुत कुछ मिलती जुलती है। सबसे बड़ी समता—समता क्यों, तद्रूपता—तो यह है कि मराठी भी देवनागरी ही

लिपि में लिखी जाती है। इसलिए मराठी बोलनेवाले बिना प्रयास हिन्दी की पुस्तकें पढ़ सकते हैं और हिन्दी बोलनेवाले मराठी की पुस्तकें पढ़ सकते हैं। बँगला की तरह मराठी में भी क्रियापदों और विशेष विशेष संज्ञाओं को छोड़ कर शेष संस्कृत ही के शब्द रहते हैं। अतएव थोड़े ही प्रयास से महाराष्ट्र लोग हिन्दी और हिन्दी बोलनेवाले मराठी सीख सकते हैं। महाराष्ट्रों को हिन्दी सीखने के लिए चार पांच महीने काफी समझना चाहिए। सीखने की विशेष आवश्यकता भी नहीं है। दो चार महीने हिन्दी के समाचारपत्र और पुस्तकें धीरे धीरे पढ़ते रहने ही से वे हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। महाराष्ट्रों को हिन्दी बोलने और सुनने का बहुत अवसर मिलता है। उनमें गानेवाले बहुधा हिन्दी के गीत गाते हैं। हिन्दी के पद और हिन्दी की ठुमरियां उनको बहुत पसन्द हैं। हरिदास लोग महाराष्ट्रों में कथा कहते हैं; वे भी बहुधा हिन्दी के दोहे, पद और धनाक्षरी कथा के बीच बीच में कहते हैं। इसके सिवा महाराष्ट्रों को हिन्दी में व्याख्यान भी कभी कभी सुनने को मिलते हैं। महाराष्ट्रों के लिए हिन्दी नई नहीं। उससे उनका सम्पर्क सदैव बना रहता है। अतएव यदि वे हिन्दी को अपनी भाषा बना लें तो उनको किसी ऐसी कठिनाई का सामना न करना पड़े जो सहज ही में हल न हो सके। हिन्दी और मराठी की वाक्य-रचना की रीति एक ही है। व्याकरण में भी कोई विशेष अन्तर नहीं; अन्तर इतना ही है कि महाराष्ट्र तीन लिङ्ग मानते हैं और हमलोग

केवल दो—स्त्री लिङ्ग और पुंल्लिङ्ग ; नपुंसक लिङ्ग हम नहीं मानते। परन्तु यह अन्तर कोई अन्तर है ? जिस महाराष्ट्र ने कभी हिन्दी नहीं पढ़ी उससे यदि किसी हिन्दी-समाचारपत्र का एक कालम (स्तम्भ) पढ़ाया जाये तो वह भी उसका भावार्थ अवश्य समझ जायगा।

महाराष्ट्रों की तरह गुजराती भी सहज ही में हिन्दी सीख सकते हैं। यद्यपि गुजराती लिपि देवनागरी लिपि से कुछ भिन्न है ; तथापि उसकी भिन्नता बहुत ही थोड़ी है। देवनागरी लिपि जाननेवाले दो ही तीन दिनों में गुजराती लिपि सीख कर उसे अच्छी तरह पढ़ सकते हैं। गुजराती अक्षरों का सिर खुला रहता है ; उनमें ऊपर लकीर नहीं रहती। गुजरात राजपूताने से लगा हुआ है। इसलिए गुजरातियों को हिन्दी बोलनेवालों से बहुत काम पड़ा करता है उनमें लिखे पढ़े लोग तो हिन्दी समझते ही हैं ; बेपढ़े भी थोड़ा बहुत समझ लेते हैं।

जिसमें हिन्दी लिखी जाती है उस देवनागरी लिपि से, गुजराती के समान, बँगला लिपि में भी बहुत कम अन्तर है। बंगाल और गुजरात में धर्म्म-सम्बन्धी प्रायः सभी संस्कृत-ग्रन्थ देवनागरी लिपि में हैं। संस्कृत का प्रचार भी उन प्रान्तों में कम नहीं। सभी लिखे पढ़े लोगों को देवनागरी लिपि का बहुधा बोध होता है। अतएव यदि गुजरात और वङ्गदेश में गुजराती और बंगला के स्थान में देवनागरी लिपि काम में लाई जाय तो क्या ही अच्छी बात हो ; थोड़े ही दिनों में हिन्दी की

ओर मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति हो जाय और हिन्दी के प्रचार में बड़ी सुविधा हो। वङ्गदेश के निवासियों को हिन्दी समझने में कोई कठिनता नहीं पड़ती और न गुजरातियों ही को पड़े। और, यदि गुजरातियों को कुछ कठिनता पड़े भी तो महीने पन्द्रह दिन हिन्दी के पत्र और पुस्तकें पढ़ने ही से वह कठिनता दूर हो सकती है। अतएव यदि महाराष्ट्र, गुजराती और बँगाली अपने अपने प्रान्त में हिन्दी का प्रचार कर दें तो इस विस्तीर्ण देशके $\frac{8}{9}$ भाग में हिन्दी प्रचलित हो जाय। इससे देश का परम कल्याण हो ; शीघ्र ही देश में सचेतनता आ जाय; ऐक्य की वृद्धि हो ; और परस्पर सहानुभूति जागृत हो उठे। बंगवासियों में विद्या का अधिक प्रचार है। उनमें बड़े बड़े विद्वान्, बड़े बड़े देश-हितैषी और बड़े बड़े महानुभाव विद्यमान हैं। क्या वे इस बात का विचार न करेंगे ? करना तो चाहिए। उन्हींको, इस बिषय में, अग्रणी होना चाहिए। यदि वे सचमुच महानुभाव हैं ; यदि सचमुच ही विद्या से उनके अन्तः-करण परिमार्जित हो गये हैं ; यदि देशहितचिन्तन की एक भी कणा सचमुच ही उनके हृदय में प्रज्वलित है ; तो अवश्यमेव उनको इस कल्याणकारी कार्य्य में शीघ्र अग्रगामी होना चाहिए।

ऊपर हमने लिखा है, कि इस देश की भाषायें दो स्थूल विभागों में विभक्त हैं, एक आर्य्य, दूसरी द्राविड़। आर्य्य भाषाओं का विचार हो चुका, अब द्राविड़ अर्थात् अनार्य्य भाषाओं के सम्बन्ध में हमें कुछ कहना है।

अनार्य्य भाषाओं में कनारी और तामील मुख्य हैं। ये दोनों भाषायें संस्कृत से कुछ भी समता नहीं रखतीं। ये बिलकुल ही भिन्न भाषायें हैं। इनकी लिपि भी संस्कृत, अर्थात्, देवनागरी लिपि से भिन्न है। इनमें से कनारी का प्रचार बहुत कम है। वह विशेष करके माइसोर और उसके आसपास के ज़िलों में बोली जाती है। परन्तु तामील बोलने-वालों की संख्या अधिक है। यह भाषा मद्रास हाते में बहुत अधिकता से बोली जाती है। भारतवर्ष के एक अष्टमांश में तामील का प्रचार है। किसीका मत है कि मद्रास प्रान्त के निवासी आर्य्यों की सन्तान नहीं, इस लिए उनकी भाषा और उनकी लिपि आर्य्यों की भाषा और लिपि से नहीं मिलती। किसी किसीका मत है कि वे आर्य्यों ही की सन्तान हैं, परन्तु अनार्य्यों को हटाते हटाते वे दक्षिण में बहुत दूर तक चले गये, और वहां से आगे अनार्य्यों को कहीं जाने का मार्ग न रहने के कारण, आर्य और अनार्य पास पास रहने लगे। इस सतत सहवास के कारण आर्य्यों में अनार्य्यों की भाषा का प्रचार हो गया।

और प्रान्तों की अपेक्षा मद्रास में धार्म्मिक शिक्षा का अधिक प्रचार है। शङ्कर, बल्लभ, रामानुज आदि के अनुयायी उस तरफ़ अधिक हैं। ये तीनों महात्मा उस प्रान्त में बहुत काल तक रहे भी हैं। इस कारण वहां पहले ही से धार्म्मिक शिक्षा की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक है। हमारे वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद् सब संस्कृत ही में हैं। इसलिए संस्कृत

पढ़े बिना उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्हीं कारणों से मदरास में संस्कृत का पठन-पाठन पहले से चला आता है। इसके सिवा अब गवर्नमेंट कालेजों में अंगरेज़ी के साथ संस्कृत की भी शिक्षा दी जाती है। अतएव अंगरेज़ी के विद्वान् (नये चाल के मनुष्य) और हिन्दू-शास्त्रों से परिचय रखनेवाले पुरानी चाल के पण्डित, सभी थोड़ी बहुत संस्कृत भाषा अवश्य जानते हैं। मदरास की ओर संस्कृत के अनेक बड़े बड़े विद्वान् हुए हैं और अब भी हैं। संस्कृत में समाचारपत्र तक वहां से निकलते हैं। संस्कृत और हिन्दी की लिपि एक ही है। हिन्दी में संस्कृत के शब्द भी अनेक हैं। अतएव यदि मदरास में हिन्दी भाषा का प्रचार किया जाय तो उसकी लिपि के पढ़ने में बहुत ही कम कठिनता मनुष्यों को उठानी पड़े। रहा भाषा का ज्ञान, सो वह भी वर्ष छः महीने के अभ्यास से हो सकेगा। दो चार वर्ष न लगेंगे। इसलिए वर्ष छः महीने के परिश्रम ही से यदि देश का कल्याण होता हो तो कौन ऐसा अधम होगा जो उस परिश्रम को उठाना न स्वीकार करेगा?

मराठी की लिपि वही है जो हिन्दी की है। गुजराती और बङ्गला का लिपि भी हिन्दी की लिपि से बहुत कुछ मिलती है। थोड़े ही प्रयत्न से बङ्गला और गुजराती पढ़नेवाले हिन्दी लिख पढ़ सकेंगे। रही तामील और कनारी। सो मदरास में संस्कृत का अधिक प्रचार होने के कारण, यदि सर्वसाधारण को नहीं तो शिक्षित लोगों को तो हिन्दी थोड़े ही समय में साध्य हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी को देश-व्यापक भाषा

बनाना सर्वथा सम्भव है। एक भाषा होने से जो एकता, जो प्रीति और जो सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है वह और किसी दूसरे साधन से नहीं हो सकती। अतएव हमारे देश-हित-चिन्तक सज्जनों को उचित है कि वे इस विषय का चिन्तन करें, औरों का चित्त इस ओर आकर्षित करें, और हिन्दी को देश-व्यापक भाषा बनाने के लिए यथासाध्य प्रयत्न करें। यदि देश भर में एक बार ही एक भाषा न हो सके तो एक लिपि होने में तो कोई विशेष, अनुल्लंघनीय, कठिनताइ नहीं जान पड़ती। एक लिपि हो जाने से हिन्दी के ज्ञाता बङ्गला पुस्तकों में भरे हुए ज्ञान-भण्डार का आस्वादन कर सकेंगे और बङ्गदेश के रहनेवाले महाराष्ट्र भाषा के साहित्य से लाभ उठा सकेंगे। इसी प्रकार गुजराती, तामील और कनारी आदि भाषाओं के ज्ञाता भी परस्पर एक दूसरेके साहित्य से अपने ज्ञान की सहज ही में वृद्धि कर सकेंगे। एक लिपि हो जाने से भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत कम हो जाती हैं। यदि दस पाँच शब्दों का अर्थ न भी समझ में आया तो विषय और सन्दर्भ का विचार कर के वाक्य का किंवा लेख का भावार्थ ध्यान में अवश्य ही आ जाता है। एक लिपि हो जाने से दूसरे प्रान्तों की भाषायें सीखने में बहुत दिन नहीं लगते। योरप में एक ही लिपि है। यही कारण है जो थोड़े ही परिश्रम से वहां वाले फ्रेंच इटालियन, पोर्चुगीज़, इङ्गलिश और जर्मन आदि भाषायें सीख लेते हैं। यदि हमारे देशमें भी एक लिपि हो जाय और पढ़े लिखे लोग मुख्य मुख्य भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर के एक भाषा होने

का प्रयत्न करें तो सफलता होने में कोई सन्देह नहीं। एक भाषा होना सारे देश का कार्य्य है। इसमें सारे देश की भलाई है। यह समझ कर प्रत्येक देश-भक्त का धर्म्म है कि वह काया-वाचा मनसा इस विषय में उद्योग करें। उद्योग करने से क्या नहीं होता? उद्योगी पुरुष आल्प्स् और हिमालय की चोटियों पर चढ़ जाते हैं, उत्तरी ध्रुव की यात्रा कर आते हैं, स्वेज़ के समान प्रचँड नहर खोद लेते हैं और लङ्का को हिन्दुस्तान से रेल-द्वारा जोड़ देने का भी प्रयत्न सोचते हैं। उद्योगी पुरुष की सहायता ईश्वर भी करता है। उसे किसी न किसी दिन अवश्य यश मिलता है। ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह हम लोगों को इस सम्बन्ध में उद्योग करने की बुद्धि और उत्तेजना दे!

[अक्टोबर १९०३

[३]

देवनागरी लिपि के गुण।

देश की उन्नति उसका भाषा की उन्नति पर अवलम्बित रहती है। जिस देश की भाषा अच्छी दशा में है, वह देश उन्नत हुए बिना नहीं रहता। विचारों को प्रकट करने का मार्ग भाषा ही है। जिस देश में सुविचारों का अभाव है उस देश की अवस्था कभी नहीं सुधरती और सुविचारों का, कला-कौशल-सम्बन्धी ज्ञान का और व्यापार-विषयक तारतम्य आदि का, देश में भाषा ही के द्वारा प्रचार होता है। इसीसे देश को उन्नत करने के लिए भाषा की उन्नति ही मुख्य साधन है।

जितने देश हम अच्छी दशा में देखते हैं उन सबको हम अपनी अपनी भाषा को प्रौढ़, सुगम और विशेष व्यापक करने में सदैव तत्पर देखते हैं। हमारे प्रभु अङ्गरेज़ों को देखिए। यद्यपि उनकी भाषा में उच्चारण आदि सम्बन्धी कितने ही बड़े बड़े दोष हैं, तथापि उनका उस पर विलक्षण प्रेम है। वे उसकी अभिवृद्धि के लिए सदैव यत्नवान् रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं जिसके सैकड़ों ग्रन्थ अङ्गरेज़ी में न हों। इन्हीं ग्रन्थों के द्वारा लोगों की सज्ञानता बढ़ती है, उनके विचार प्रौढ़ होते हैं, उनकी बुद्धि विकसित होती है। इन्हीं गुणों के योग से देश की प्रतिदिन अधिक अधिक उन्नति होती जाती है।

जब सज्ञानता की वृद्धि के लिए केवल भाषा ही एक मात्र मुख्य साधन है तब जिस लिपि में भाषा लिखी जाय, वह लिपि भी सर्वगुण-विशिष्ट, सरल और निर्दोष होनी चाहिए। गुणों का विचार करने में फ़ारसी लिपि का तो नाम ही न लेना चाहिए, क्योंकि उसकी बराबर सदोष और भ्रामक दूसरी लिपि शायद ही इस भूतल में हो। अङ्गरेज़ी लिपि विदेशी है और अनेक दोषों से दूषित है। अंगरेज़ों ही के लड़के उस लिपि की पुस्तकें बिना दो ढाई वर्ष परिश्रम किये अच्छी तरह नहीं पढ़ सकते। परन्तु देवनागरी की पुस्तकें हमारे देश में छः सात वर्ष के छोटे छोटे बालक केवल पाँच छः महीने में पढ़ने लगते हैं। अतएव नागरी-लिपि के सामने अंगरेज़ी लिपि को किसी प्रकार श्रेष्ठता नहीं मिल सकती। कनारी, तामील और

तैलङ्गी आदि लिपियां तो अनार्य्यों ही की लिपियां ठहरीं। उनकी सदोषता की तो बात ही न कहिए। वे तो किसी प्रकार ग्राह्य नहीं। रहीं बङ्गला और गुजराती लिपियां, सो ये देवनागरी लिपि ही की रूपान्तर हैं। उसीसे बिगड़ कर वे बनी हैं अतएव उनको प्रधानता नहीं मिल सकती। प्रधान लिपि वही है जिससे वे बनी हैं। इसी लिए देवनागरी लिपि ही में देश-व्यापक भाषा का होना इष्ट है।

देवनागरी लिपि के समान, शुद्ध, सरल और मनोहर लिपि संसार में नहीं। विदेशीय और विजातीय विद्वानों तक ने उसकी प्रशंसा की है। विद्वान् बेडन साहब कहते हैं—

"संस्कृत लिपि की सरलता और शुद्धता सबको स्वीकार करनी पड़ेगी। संसार में संस्कृत के समान शुद्ध और स्पष्ट लिपि दूसरी नहीं।"

संस्कृत लिपि ही को देवनागरी लिपि कहते हैं। इस लिपि की पूर्णता और स्पष्टता के विषय में इतना ही कहना बस है कि इसकी रचना उच्चारण के अनुसार है। मुख से जैसा उच्चारण होता है उसीके अनुसार इसमें वर्ण रक्खे गये हैं। यही एक ऐसी लिपि है जिसमें दूसरी भाषाओं के कठिन से कठिन शब्द बड़ी शुद्धता से लिखे जा सकते हैं और वैसे ही पढ़े भी जा सकते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापक मॉनियर विलियम्स् लिखते हैं—

"सच तो यह है कि संस्कृत लिपि जितनी अच्छी है उतनी अच्छी और कोई लिपि नहीं। मेरा तो यह मत है कि

संस्कृत-लिपि मनुष्यों की उत्पन्न की हुई नहीं; किन्तु देवताओं की उत्पन्न की हुई है।"

बम्बई के हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस, सर अर्स्किन पेरी "नोट्स टू ओरियंटल केसेज़" (Notes to Oriental Cases) की भूमिका में लिखते हैं—

"इस एक ही बात से संस्कृत-लिपि की सर्वाङ्गपूर्णता सिद्ध होती है कि उसमें प्रत्येक शब्द का उच्चारण केवल अक्षर देखकर होता है। वर्ण-परिचय होते ही हिन्दुस्तान के लड़के बिना रुके कोई भी पुस्तक पढ़ सकते हैं। उनको चाहे विषय का ज्ञान न हो, परन्तु पढ़ने में उनको कोई कठिनता नहीं होती। योरप में पुस्तकों को साधारण रीति पर पढ़ने के लिए लड़कों को दो वर्ष लगते हैं; परन्तु इस देश में, जहां संस्कृत-लिपि का प्रचार है, तीन ही महीने में लड़के पुस्तकें पढ़ने लगते हैं।

विद्वान् मुसल्मानों तक ने देवनागरी लिपि की प्रशंसा की है। शमसुलुल्मा सय्यद अली बिलग्रामी ने लिखा है—

"फ़ारसी लिपि की कठिनता ही के कारण मुसल्मानों में विद्या का कम प्रचार है। फ़ारसी लिपि शुद्ध भी नहीं है और देखने में भी अच्छी नहीं है। फ़ारसी अक्षरों में, थोड़ा बहुत लिखना पढ़ना आने में, दो वर्ष लगजाते हैं; परन्तु देवनागरी लिपि में हिन्दी लिखने पढ़ने के लिए तीन महीने बस हैं।"

सब गुणों से सम्पन्न, सुन्दर, स्पष्ट और सरल देवनागरी लिपि ही में, देश में, हिन्दी भाषा का प्रचार होना चाहिए। हम लोगों को इस लिपि का अभिमान होना चाहिए। और

उसके प्रचार के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए। यह लिपि कोहेनूर हीरा है; अनमोल रत्न है। इसे छोड़ कर हमको काँच से क्यों तृप्त होना चाहिए। देवनागरी लिपि को छोड़ कर किसी दूसरी अशुद्ध, अपूर्ण, कर्कश, कर्णकटु और भ्रामक लिपि को आश्रय देना अविचार की पराकाष्ठा है। गुणवान् का योग्य आदर न करने से उसकी क्या हानि? कुछ नहीं। हानि अनादर न करनेवालों ही की है।

अतएव बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती और मदरासी विद्वानों को इस सर्व-गुण-शालिनी नागरी-लिपि ही को आश्रय देना चाहिए। एक लिपि हो जाने से एक भाषा होने की कठिनता बहुत कम हो जायगी। लिपि की एकता होने से सहानुभूति बढ़ेगी; परस्पर के विचारों का मेल मिलने लगेगा; परायापन कम हो जायगा; और सबके हृदय में यह बात जम जायगी कि यद्यपि हम लोग भिन्न भिन्न भाषायें बोलते हैं तथापि सब एक ही देश के निवासी हैं। लिपि के एक होते ही, यदि सब के नहीं, तो शिक्षित लोगों के मन में यह बात अवश्य स्थान कर लेगी कि हम हिन्दू हैं; हमारी भाषा हिन्दी है और हमारा देश हिन्दुस्तान है। "हिन्दी और हिन्दुस्तान" ही इस देश की उन्नति का मूल मन्त्र है। शिक्षित-समाज में इस मन्त्र का अनुष्ठान आरम्भ होने पर सर्वसाधारण लोग भी क्रम क्रम से इसकी दीक्षा लेंगे और यथा-समय यह देश भी देशत्व का अधिकारी होगा।

इस समय हिन्दी का साहित्य अच्छी दशा में नहीं। यदि

हम यह कहें कि हिन्दी में, नाम लेने योग्य, साहित्य ही नहीं तो भी बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। इसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि इन प्रान्तों में लोगों की प्रवृत्ति पढ़ने लिखने की ओर कम है। जो अपने लड़के को स्कूल भेजता है वह ज्ञान-सम्पादन के लिए नहीं, किन्तु सरकारी नौकरी मिलने के लिए भेजता है। दूसरा कारण यह है कि सरकार आज तक हिन्दी की ओर से उदासीन थी। अब उसने हिन्दी को भी आश्रय दिया है। अतएव शीघ्र ही इसकी दशा सुधरने की आशा है। परन्तु उसकी वर्तमान अवस्था का विचार करने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात के बिचार की है कि हिन्दी देश-व्यापक भाषा हो सकती है या नहीं; और ऐसा होने से देश को लाभ पहुंच सकता है या नहीं। इन बातों का विचार हम ऊपर कर आये हैं। हिन्दी सब प्रकार व्यापक भाषा होने के योग्य है। यदि इस देश में कोई व्यापक भाषा हो सकती है तो हिन्दी ही हो सकती है। इसलिए उसकी वर्तमान स्थिति की ओर दृक्पात न करके उसके गुणों ही का विचार करना अभीष्ट है। रत्न यदि कूड़े में फेंक दिया जाय तो उसका क्या अपराध? अपराध फेंकनेवाले का है। वहां पड़ा रहने से उसका रत्नत्व नहीं जाता। किसीने कहा है—

कनक भूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते।
न स विरौति न चापि हि शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता॥

अर्थात् सोने की अंगूठी में जड़े जाने योग्य हीरे को यदि किसीने कांसे में जड़ दिया तो उसका क्या दोष? इस दशा

में न तो वह वहां पर शोभित ही होता है और न कुछ कहता ही है। हां, जड़नेवाले की बुद्धिमानी की सब लोग चर्चा अवश्य करते हैं! अतएव हिन्दी के वर्तमान साहित्य का विचार न करके उसकी योग्यता ही का विचार करना उचित है। और योग्यता का विचार करने पर सबको यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वह देश-व्यापक भाषा होने के सर्वथा योग्य है इसलिए उसकी साहित्य-विषयक न्यूनता, उसे व्यापक भाषा बनाने की किसी प्रकार अवरोधक नहीं।

हिन्दी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का यदि निश्चय भी किया जाय तो गवर्नमेंट उसे स्वीकार करेगी या नहीं? यह एक प्रश्न है। हम नहीं जानते, गवर्नमेंट इसमें क्यों बाधा डालेगी। एक लिपि और एक भाषा होने से गवर्नमेंट को सब प्रकार लाभ ही लाभ है; हानि नहीं। इस समय अधिकारियों को जो बँगला, गुजराती और तामील आदि क्लिष्ट लिपियां और क्लिष्ट भाषायें सीखनी पड़ती हैं वे उन्हें न सीखनी पड़ेंगी। इन कष्टसाध्य भाषाओं को सीखने में योरोपियन सिविलियन अधिकारियों को बहुत समय लगता है; बहुत कष्ट उठाना पड़ता है; परन्तु तिसपर भी उनको उनका यथोचित ज्ञान नहीं होता। हिन्दी का प्रचार हो जानेसे फिर, "चिरादिन" के नाम समन्स भेजे जाने का अवसर कदापि न आवेगा। भाषा की बात राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखती। भाषा के सम्बन्ध में किसी गूढ़ मन्त्रणा की शंका नहीं की जा सकती। भाषा एक होने से राजा और प्रजा दोनोंको समान लाभ है। जिस

हिन्दी लिपि के गुणों का वर्णन बड़े बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने किया है उसे गवर्नमेंट को भी स्वीकार करना चाहिए। सब लोगों को भी उसे देश-व्यापक लिपि बनाने की चेष्टा करनी चाहिए; गवर्नमेंट से उन्हे प्रार्थना भी करनी चाहिए। गवर्नमेंट तभी बाधा देगी जब लोकमत में विरोध होगा; अन्यथा नहीं। और यदि उसने यह प्रस्ताव न भी स्वीकार किया तो हिन्दी के विषय में चर्चा करते रहने, उसके व्यापक भाषा न होने के दोष बतलाने और सारे देश का एक मत होने से, किसी न किसी दिन, गवर्नमेंट अवश्य ही प्रजा का प्रस्ताव स्वीकार करेगी। देश में एक भाषा होने के गुण ऐसे गुरु, ऐसे प्रखर और ऐसे सर्व-सम्मत हैं कि गवर्नमेंट को शायद इस प्रस्ताव का विशेष विरोध न करना पड़े।

देश भर में एक लिपि और एक भाषा करने में जो कठिनाइयां जान पड़ती हैं वे सब उल्लंघनीय हैं। वे ऐसी नहीं जिनका प्रतिबन्ध न हो सके। सब प्रान्तों में देवनागरी लिपि प्रचलित करने का सहज उपाय यह है कि प्राइमरी (प्रारम्भिक) मदरसों में उसकी शिक्षा दी जाय। यदि ऐसा किया जाय तो बहुत ही थोड़े दिनों में इस लिपि का सब कहीं प्रचार हो जाय और शीघ्र ही प्रजा में सहानुभूति जागृत हो उठे। यदि एक सम्मत हो कर सब लोग गवर्नमेंट से इस विषय में प्रार्थना करें तो सर्वथा सम्भव है कि वह इस परमोचित प्रार्थना को स्वीकार कर ले और प्रारम्भिक मदरसों में, और और विषयों के साथ, नागरी लिपि का भी प्रचार कर दे। परन्तु, कल्पना

कीजिए कि गवर्नमेंट ने ऐसा करना मंज़ूर न किया तो क्या इस लिपि को प्रचलित करने का और कोई मार्ग ही नहीं और कोई उपाय ही नहीं ? है क्यों नहीं। अवश्य है। ऐसे अनेक स्कूल हैं जिनपर गवर्नमेंट का कोई स्वत्व नहीं; वे सर्वथा प्रजा ही के खर्च से चलते हैं। उनमें हिन्दीलिपि की शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाय। इस प्रकार के जितने स्कूल हैं सबमें हिन्दी लिपि यदि सिखलाई जाय तो वर्ष ही छ:महीने में हज़ारों नहीं, लाखों, लड़के और लड़कियाँ, देश में हिन्दी लिखने लगें; और इस लिपि को व्यापक लिपि करने में बहुत सहायता मिले। देश के कल्याण के लिए, देश के मङ्गल के लिए, इस मृतक देश को फिर सजीव करने के लिए, यह क्या कोई बड़ी बात है ?

यदि हिन्दी लिपि प्रचलित हो जाय तो दूसरी लिपि के आज तक जो असंख्य उत्तमोत्तम ग्रन्थ निकल चुके हैं उनका क्या हो ? अनन्त धन जो छापेखानों के मालिकों और व्यापारियों ने इन ग्रन्थों के लिए लगाया है उसकी क्या दशा हो ? उस हानि से किस प्रकार निस्तार हो ? ये बातें भी सहसा मन में उठती हैं और थोड़ी देर के लिए एक लिपि की असम्भवनीयता प्रकट करती हैं। परन्तु, विचार करने से यह असम्भवनीयता जाती रहती है। जो पुस्तकें, जो काग़ज़ात, जो दस्तावेज़ इस समय बँगला, गुजराती और तामील आदि भाषाओं की लिपियों में हैं उनको वैसे ही रहने देना चाहिए। पुस्तकें जब दुबारा छपें तब उनकी लिपि हिन्दी कर देने से काम निकल

सकता है। ऐसा करने से किसीको कुछ भी हानि न उठानी पड़ेगी। एक लिपि का प्रचार होने (लिपि नहीं, भाषा का भी प्रचार होने) के सैकड़ों वर्ष आगे तक लोग अपनी मूल भाषा को न भूलेंगे; और सम्भव है उनकी मूल भाषा सदा बनी ही रहे। इस दशा में पुरानी पुस्तकें, जो हिन्दी लिपि में छपेंगी, उनको पढ़ने और समझने में कोई कठिनता न उपस्थित होगी। यही बात दस्तावेज़ों के विषय में भी समान रूप से कही जा सकती है। पुराने काग़जात जैसे हैं वैसे ही रहें। हां, नये देवनागरी लिपि में लिखे जायें। यदि ऐसे महान् देशकार्य में किसीको थोड़ी सी हानि भी उठानी पड़े तो कोई बड़ी बात नहीं। ऐसे अनेक महात्मा हो गये हैं, और अब भी हैं, जिन्होंने देशहित के लिए अखण्ड परिश्रम किया है; जिन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दे डाली है; जिन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है; जिन्होंने अपने प्राणों तक की भी परवा नहीं की!

इस काम के लिए आत्मावलम्बन दरकार है; दृढ़ निश्चय दरकार है; दीर्घ प्रयत्न दरकार है। परावलम्बन से काम नहीं चल सकता। परावलम्बन से सफलता की बहुत हां कम आशा होती है। गवर्नमेंट का मुँह ताकने की अपेक्षा स्वयं कुछ करके दिखलाना चाहिए, गवर्नमेंट से सहायता माँगने के पहले भिन्न भिन्न भाषाओं के दो चार समाचारपत्रों को हिन्दी लिपि में निकलना चाहिए। सर्वसाधारण के ख़र्च से चलने-वाले स्कूलों में हिन्दी लिपि और, तदनन्तर, हिन्दी भाषा का

थोड़ा थोड़ा प्रचार होना चाहिए। सब कहीं इस विषय की चर्चा होनी चाहिए; लेख निकलने चाहिए; पुस्तकें छपनी चाहिए; लोगों का चित्त इस ओर अनेक उपायों से आकर्षित किया जाना चाहिए। इन बातों की बड़ी आवश्यकता है। बिना इसके सफलता असम्भव है। अपनी उन्नति के लिए हम को स्वयं कमर कसना चाहिए। यदि भाषा-सम्बन्धिनी उन्नति की अभिलाषा से हम बद्धपरिकर होंगे और कुछ करके दिखलावेंगे तो गवर्नमेंट भी, यथा-समय, हमारी अवश्य सहायता करेगी।

सब कहीं हिन्दी लिपि प्रचलित करने की अपेक्षा हिन्दी भाषा प्रचलित करने में विशेष कठिनता की सम्भावना है। इस समय प्रत्येक प्रान्त के निवासी अपनी अपनी भाषा को उन्नत करने के प्रयत्न में हैं। महाराष्ट्र, गुजराती, मदरासी और बंगाली, सभी अनेक प्रकार से, अपने अपने साहित्य को सुश्रीक करने में लगे हैं। अनुवाद करने, नवीन पुस्तकें लिखने, व्याख्यान देने, उत्तमोत्तम मासिक पुस्तकें और समाचारपत्र निकालने के लिए अनेक सभायें, अनेक समाज, और अनेक क्लब स्थापित हुए हैं। वे भला कब चाहेंगे कि उनकी भाषा त्याज्य समझी जाय, और हिन्दी, जो इस समय सबसे पीछे पड़ी है, देश-व्यापक भाषा बनाई जाय। परन्तु, देश के हित के लिए उनको दुराग्रह छोड़ना पड़ेगा, ऐक्य उत्पन्न करने लिए अपने पराये की भावना भुलानी पड़ेगी, सहानुभूति का बीज अंकुरित करने के लिए थोड़ा सा कष्ट उठाना पड़ेगा। हमें अपने शासक अंगरेज़ों की ओर दृक्पात करना चाहिए। देश का काम

उपस्थित होते ही वे किस साहस से, किस उत्तेजना से, किस स्वार्थत्याग से उठ खड़े होते हैं और तन, मन, धन, सभी अर्पण करके कार्यसिद्धि होने तक सारा दुराग्रह और सारा पक्षपात भूल जाते हैं। यदि भाषा के सम्बन्ध में भी हम लोगों ने यह गुण उनसे न सीखा तो हमने कुछ भी न किया। यदि यह भी हमसे न हो सका तो हमको समझना चाहिए कि कभी हमारा सिर ऊंचा न होगा। हमारा जो अधःपतन हुआ है उससे कभी हमारा निस्तार न होगा, हम कभी एकजातित्व के गुणों से परिपूर्ण हो कर सुखी न होंगे। आकल्पान्त हम इसी शोचनीय दशा में पड़े रहेंगे। कौन ऐसा अधम है जो इसी में सुख मानेगा!

जरा जापान की ओर दृष्टि कीजिए। अलग अलग छोटी छोटी रियासतों में बंटे रहने के कारण, जब अपनी अशक्तता जापानियों की समझ में आ गई, तब उन्होंने एकमत होकर अपनी अपनी रियासतें और अपनी अपनी सेनायें गवर्नमेंट के सिपुर्द कर दीं। इससे जापान शीघ्र ही प्रबल हो उठा और वह पृथ्वी के शक्तिमान देशों में गिना जाने लगा। इसीका नाम स्वार्थ-त्याग है। हिन्दी को व्यापक भाषा बनाने के लिए महाराष्ट्र, गुजराती, मद्रासी और बङ्गालियों को क्या उतना स्वार्थ-त्याग करने की आवश्यकता है जितना कि जापानियों ने किया है? नहीं। उसका दशांश भी नहीं। उनको अपनी भाषा के स्थान में हिन्दी भाषा को प्रधानता ही भर देना है। यह कोई बहुत बड़ा स्वार्थ-त्याग नहीं।

फिर, इसकी आवश्यकता भी नहीं कि और लोग अपनी अपनी भाषाओं को बिलकुल ही भूल जायं। उनमें वे कोई पुस्तक ही न लिखें। उनमें वे अपने विचार ही न प्रकट करें। वे यह सब कर सकते हैं। देश-व्यापक भाषा के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि इस विस्तीर्ण देश में जितनी भिन्न भिन्न भाषायें प्रचलित हैं उनके उत्तमोत्तम ग्रन्थों का प्रतिबिम्ब देश-व्यापक भाषा में उतारा जाय। किसी भाषा का कोई भी ग्रन्थ हो उसकी प्रतिमा हिन्दी में आनी चाहिए। ऐसा किये बिना उन ग्रन्थों का सार्वत्रिक प्रचार न होगा। ऐसा किये बिना विशेष ज्ञानवृद्धि न होगी। प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी भाषा के साहित्य के साथ साथ हिन्दी के साहित्य के उत्कर्ष के लिए हृदय से प्रयत्न करना चाहिए। हिन्दी पढ़ने का प्रचार सब कहीं होना चाहिए। हिन्दी में अच्छे अच्छे समाचारपत्र सब प्रान्तों से निकलने चाहिए। ऐसा होने से हिन्दी की शीघ्र ही उन्नति होगी और वह सुगमता से देश-व्यापक भाषा हो सकेगी।

उपसंहार।

यहां तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में यदि कोई भाषा देश-व्यापक हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। व्यापक भाषा होने के लिए वह सब प्रकार योग्य है। सरलता, शुद्धता और पूर्णता में हिन्दी लिपि की बराबरी दूसरी लिपि नहीं कर सकती। एक भाषा न होने से जो हानियां

हैं उनका भी ऊपर ज़िक्र हो चुका है, और एक भाषा होने से जो लाभ हैं उनका भी ज़िक्र हो चुका है। हिन्दी को देशव्यापक भाषा बनाने में कठिनतायें अवश्य उपस्थित होंगी। परन्तु उन का सामना करना उचित है। उनको हल करना उचित है। वे ऐसी नहीं हैं जो उल्लंघनीय न हों। इस देश की अपेक्षा रूस बहुत बड़ा देश है। वहां भी अनेक भाषायें प्रचलित हैं। ऐसे विस्तीर्ण देश में भी, इस समय, एक रशियन भाषा को देश-व्यापक बनाने का प्रयत्न हो रहा है और सफलता के पूरे लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इस लिए जब रूस के समान विशाल देश में एक भाषा हो सकती है तब इस देश में भी हो सकती है। रूस में यह विशेषता है कि राजा की भाषा रशियन ही है। यह बात इस देश में नहीं। परन्तु गवर्नमेंट की सहायता के बिना भी, हिन्दी को, हमलोग देश-व्यापक भाषा बना सकते हैं। सफल-मनोरथ होने के लिए एकता की आवश्यकता है, दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है, अध्यवसाय की आवश्यकता है। बस इतना ही चाहिए; इतनेही में सब कुछ आ गया। उद्योग करने से सिद्धि हुए बिना नहीं रहती। विलम्ब चाहे हो, परन्तु सिद्धि होती अवश्य है।

देश के मङ्गल के लिए, देश के कल्याण के लिए, देश को सचेतन करने के लिए एक भाषा होने की परमावश्यकता है। जिसने इस देश में जन्म लिया है, जिसने इस देश का अन्न जल ग्रहण किया है, जो इस देश से कुछ भी प्रीति रखता है, उसका धर्म्म है कि वह इसे सजीव करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न

करे। उसका धर्म्म है कि इस मृत भारतवर्ष को एक भाषा-रूपी सञ्जीवनी शक्ति के द्वारा सजीव करे। ऐसा न करना, और न करके इस मृतक के मृण्मय पिण्ड पर पदाघात करते रहना घोर कृतघ्नता है! हमारा देश हिन्दुस्तान है, अतएव हमारी स्वाभाविक भाषा हिन्दी है। हिन्दी और हिन्दुस्तान का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। देखें, हमारे देश-बन्धु इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए कब कमर कसते हैं।

[नवंबर १९०३

—०—

५ देशव्यापक लिपि ।

देश में एक भाषा और एक लिपि के प्रस्ताव का सूत्रपात हुए बहुत दिन हुए। इस विषय की आवश्यकता, उपयोगिता और गुरुता पर महाराष्ट्र और गुर्जर-देश के कई सुविज्ञ लेखकों ने लेख लिखे हैं। हिन्दी में भी इस विषय से सम्बन्ध रखने-वाले कईएक निबन्ध निकल चुके हैं। उनमें एक भाषा और एक लिपि की आवश्यकता पर बहुत कुछ विचार किया गया है। समाज का जो भाग अधिक उत्साही, अधिक प्रभुतावान् और अधिक विद्या-व्यासङ्गी होता है, उसके प्रस्तावों का—उसकी बातों का—समाज पर अधिक असर पड़ता है। चार भाइयों में जो भाई—चाहे वह सबसे छोटा ही क्यों न हो—अधिक योग्य, प्रतिष्ठित और समाजमान्य होता है उसकी बात अक्सर सब भाई मानते हैं। जो जितना ही अधिक विद्वान् है उसकी बुद्धि भी उतनी ही अधिक काम देती है। इन्हीं सब बातों का विचार करके हमने एक दफे सूचना की थी कि यदि बङ्गाली विद्वान इस विषय में अगुआ हों तो कार्य्य-सिद्धि की अधिक आशा है। हर्ष की बात है, हमारी सूचना व्यर्थ नहीं गई। चाहे यह बात काकतालीय न्याय ही से हुई हो, पर हुई अवश्य। जब से कलकत्ते के हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज माननीय शारदाचरण मित्र ने एक प्रबन्ध पढ़ कर

देश में एक लिपि होने का प्रस्ताव किया, तब से इस विषय में कुछ सजीवता आने लगी है।

देश में एक लिपि होने के विषय में माननीय शारदाचरण के प्रस्ताव का अनुमोदन भी हुआ है और विरोध भी। अनुमोदन-कर्त्ताओं की संख्या अधिक है, विरोधियों की कम। विरोध-कर्त्ताओं में विशेष करके अङ्गरेज़ हैं। उनकी दलीलों का खण्डन माननीय शारदा बाबू ने बड़ी योग्यता से किया है। इस विषय में उनके कई युक्तिपूर्ण और विद्वत्ता-गर्भित लेख अङ्गरेज़ी और बंगला मासिक पुस्तकों में निकल चुके हैं। उनके अगुआ होने से इस विषय को अधिक महत्त्व मिला है; उसमें कुछ कुछ प्राणसञ्चार हो आया है; उसकी उपयोगिता लोगों के ख़याल में आने लगी है। इस विषय का विचार शुरू हो गया। जब विचार होता है तब विवाद भी होता है। विवाद होने से सत्य ही की जीत होती है। और सत्य से लाभ के सिवा हानि नहीं होती। देश भर में एक व्यापक लिपि की आवश्यकता है। यह बात सच है। इससे यदि ऐसी लिपि का प्रचार हो जाय तो अवश्य लाभ हो। इसमें सन्देह नहीं।

योरप में इङ्गलैंड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, रूस, इटली, स्वीडन आदि अनेक देश हैं। उन सबकी भाषा अलग अलग है। पर लिपि सबकी एक है। यही क्यों? जो लिपि योरप में है वही अमेरिका में भी है; वही हज़ारों कोस दूर आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड आदि टापुओं में भी है। इसका फल भी प्रत्यक्ष है। एक लिपि में लिखी जानेवाली प्रत्येक भाषा के अनेक शब्दों की

उत्पत्ति ग्रीक और रोमन आदि पुरानी भाषाओं से होने के कारण योरप और अमेरिकावाले अपनी भाषाओं के सिवा दो दो चार चार अन्य भाषायें भी सहज ही में सीख लेते हैं। इस तरह अन्य भाषाओं के विद्वानों के ग्रन्थ और लेखों से वे बहुत कुछ लाभ उठाते हैं। इस कारण उनमें परस्पर सहानुभूति और एकता बढ़ जाती है। एक देश में रहने, एक तरह की पोशाक पहनने और एक धर्म को मानने से परस्पर बन्धुभाव अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है। परन्तु पारस्परिक सहानुभूति और बन्धुता उत्पन्न करने की, एक लिपि में, इन बातों की भी अपेक्षा अधिक शक्ति है। भिन्न धर्म्म, भिन्न परिच्छद और भिन्न देश होने पर भी लिपि एक होने से पारस्परिक सहानुभूति जागृत हुए बिना नहीं रहती। जहां किसी तरह की समता होती है वहां ममता ज़रूर उत्पन्न होती है। और ममता से एकता आती है। एकता ही देश का बल है। जहां एकता नहीं वहां बल का सदैव अभाव या अल्पभाव रहता है। और जो समाज निर्बल है—जिसमें एकता रूपी बल नहीं—उसे निर्जीव समझना चाहिए। ऐसे देश का अधःपतन अवश्य होता है, चाहे विलम्ब से हो चाहे अविलम्ब से।

व्यापक भाषा होने के लिए—देश भर में एक भाषा प्रचलित करने के लिए—एक लिपि का होना, कार्य्य-सिद्धि का अव्यर्थ साधक है। एक भाषा का होना अधिक कष्टसाध्य है। पर एक लिपि का होंना उतना कष्ट-साध्य नहीं। यही समझ कर माननीय शारदाचरण ने व्यापकभाषा की बात छोड़

कर अभी सिर्फ़ व्यापक लिपि की बात उठाई है। ऐसे काम क्रम ही क्रम हो सकते हैं। नीचे की सीढ़ी पर पैर रखकर ही आदमी ऊपर की सीढ़ी तक पहुँच सकता है। एकदम उछल कर वह ऊपर नहीं जा सकता।

योरप के भिन्न भिन्न देशों में—हज़ारों कोस दूर टापुओं तक में—जब एक लिपि का प्रचार है तब हिन्दुस्तान में एक लिपि क्यों सम्भव नहीं? सर्वथा सम्भव है। जिनके धर्म्मग्रन्थ संस्कृत में हैं उनमें, अर्थात् हिन्दुओं में, एक लिपि बहुत ही कम परिश्रम और प्रयत्न से प्रचलित हो सकती है। जिनकी भाषा संस्कृत से निकली हुई है और जिनकी लिपि देवनागरी लिपि से मिलती हुई है उनके लिए एक लिपि, अर्थात् देवनागरी, स्वीकार कर लेना तो और भी कम कष्टसाध्य है। डाक्टर ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तान की भाषाओं और बोलियों के विषय में अभी हाल ही में जो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ, कई भागों में, लिखा है उसमें इस बात का हिसाब दिया गया है कि हिन्दुस्तान के तीस करोड़ आदमियों में से कितने आदमी कौन भाषा बोलते हैं। जो लोग संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषायें बोलते हैं, उनका हिसाब इस तरह है—

हिन्दी	पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी		६, २८, ००, ०००
	माध्यमिक हिन्दी	...	३, १२, ००, ०००
	पञ्जाबी	...	१, ७०, ००, ०००
	राजस्थानी	...	१, ९०, ००, ०००
			१३, ००,००,०००

बँगला	...	४, ४६, ००, ०००
मराठी	...	१, ८२, ००, ०००
गुजराती	...	१, ००, ००, ०००
फुटकर भाषायें	...	२, ००, ००, ०००
		६, २८, ००, ०००
	कुल ...	२२, २८, ००,०००

अर्थात् तीस करोड़ आदमियों में से सवा बाइस करोड़ आदमी संस्कृत-मूलक भाषा बोलते हैं। शेष पौने आठ करोड़ तामील, तैलंगी आदि ऐसी भाषायें बोलते हैं जो संस्कृत से नहीं निकलीं। अर्थात् आर्य्य-भाषा बोलने-वालों की अपेक्षा अनार्य्य भाषा बोलनेवालों की संख्या सिर्फ़ एक चौथाई से कुछ ही अधिक है। अतएव इन्हीं लोगों को एक लिपि, अर्थात् देवनागरी, स्वीकार करने में विशेष कठिनता पड़ेगी। परन्तु एक लिपि से होनेवाले लाभों का विचार करके इस कठिनता को परिश्रम-पूर्वक हल करलेना इन लोगों का परम कर्तव्य है। आर्य्यभाषा बोलनेवालों में से कोई तेरह करोड़ आदमी देवनागरी लिपि ही को काम में लाते हैं। पञ्जाब में इस लिपि का प्रचार कुछ कम है। पर वहां गुरूमुखी लिपि काम में आती है ; वह देवनागरी लिपि ही का अपभ्रष्ट रूपान्तर है। जो लोग अरबी से निकली हुई फ़ारसी लिपि लिखते हैं उनकी संख्या, इस हिसाब को देखते, इतनी ही है जितना दाल में नमक। अतएव इस बात को मान लेने में कोई बाधा नहीं कि तेरह करोड़ आदमी देवनागरी लिपि को काम

में लाते हैं। बाक़ी नौ करोड़ आदमी बँगला, मराठी और गुजराती इत्यादि बोलनेवाले हैं। इसमें से भी प्रायः दो करोड़ मराठी बोलनेवालों को छोड़ दीजिए, क्योंकि वे छापने में, और कभी कभी लिखने में भी, देवनागरी ही वर्णमाला काम में लाते हैं। अब सिर्फ़ सात करोड़ आदमी रहे जो थोड़े परिश्रम से देवनागरी वर्णमाला सीखकर उसे लिख पढ़ सकते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई पन्द्रह करोड़ आदमी देवनागरी लिपि इस समय भी लिखते हैं और कोई सात करोड़ थोड़े ही परिश्रम से उसे सीख सकते हैं। शेष आठ करोड़ आदमियों को उसे सीखने के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। इसमें मुसल्मानों की भी संख्या शामिल है। उसे निकाल डालने से पिछले प्रकार के आदमियों की संख्या और भी कम हो जायगी।

गुजरात में जो लिपि काम में आती है उसे बने अभी सौ वर्ष भी नहीं हुए; यह एक गुजराती विद्वान् का मत है। देवनागरी और गुजराती लिपि में बहुत ही कम अन्तर है। देवनागरी लिपि को, दो तीन दिन, कुछ देर तक ध्यानपूर्वक देखने से, यह अन्तर मालूम हो सकता है और बहुत थोड़े अभ्यास से गुजराती लिपि जाननेवाले देवनागरी पढ़ सकते हैं। गुजरात में जितनी संस्कृत की पुस्तकें प्रचलित हैं वे प्रायः देवनागरी ही में हैं। पुस्तकों और समाचारपत्रों में प्रमाणस्वरूप जहां कहीं संस्कृत के वाक्य या श्लोक देने पड़ते हैं वहां वे प्रायः देवनागरी ही लिपि में दिये जाते हैं। फिर,

गुजराती विद्वान् देवनागरी लिपि की विशुद्धता और एक-लिपि के लाभ अच्छी तरह समझ गये हैं। अतएव उनकी प्रवृत्ति इस तरफ़ ख़ुद ही हो रही है। आशा है, यदि इसी प्रकार इस विषय में चल-विचलता जारी रही तो गुजरात में बहुत जल्द इस लिपि का प्रचार प्रारम्भ हो जायगा। पारसी लोगों की भी लिपि गुजराती है। पर उनका ध्यान, अभी तक, इस विषय की तरफ़ नहीं गया। उनके धर्म्मग्रन्थ पहलवी भाषा में हैं। अतएव उनको संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ने और उसके द्वारा देव-नागरी लिपि से पहचान करने का बहुत कम अवसर मिलता है। उनकी उदासीनता का यही कारण जान पड़ता है। कोई कोई तो कहते हैं कि पहले पहल पारसी लोगों ही ने गुजराती भाषा का प्रचार, छापे में, किया। क्योंकि सबसे पहले उन्हींने छापेख़ाने खोले। सुनते हैं, पचास साठ वर्ष पहले गुजराती लिपि का प्रचार सिर्फ़ महाजनी बही खाते में होता था, और कहीं नहीं। परन्तु पारसियों की संख्या बहुत कम है। यदि वे इस सर्वोपयोगी और देशकल्याणजनक लिपि को न स्वीकार करें तो भी विशेष हानि नहीं। परन्तु ऐसा वे शायद ही करें। जब गुजराती लोग इस लिपि को काम में लाने लगेंगे तब पारसियों को लाना ही पड़ेगा।

नागरी लिपि को काम में लाने के लिए बङ्गालियों के अग्रगामी होने की बड़ी आवश्यकता है। बङ्गला लिपि भी देवनागरी-मूलक है। दोनों की वर्णमाला में अन्तर है; पर बहुत थोड़ा। पढ़े लिखे आदमी एक घण्टा रोज़ अभ्यास

करने से अधिक से अधिक एक हफ्ते में बँगला-लिपि को अच्छी तरह सीख सकते हैं। और बँगला जाननेवाले देवनागरी लिपि को उससे भी कम समय में जान सकते हैं। फिर, बङ्गाल में संस्कृत के बहुत से ग्रन्थ देवनागरी ही में छपते हैं। अतएव बङ्गवासियों के समुदाय का कुछ अंश इस लिपि से पहले ही से परिचित है। जो नहीं है वह भी बहुत थोड़े परिश्रम से परिचय-प्राप्ति कर सकता है। इससे आशा है कि विचारशील बङ्गवासी माननीय शारदाचरण मित्र के देशव्यापक-लिपि-विषयक प्रस्ताव को स्वीकार करके नागरी लिपि के प्रचार में अवश्य दत्तचित्त होंगे। सुनते हैं, इस परमावश्यक प्रस्ताव के फलवान होने का चिह्न भी शीघ्र ही देखने को मिलेगा। कलकत्ते के "इण्डयन मिरर" नामक समाचारपत्र ने लिखा है कि "देवनागरी विस्तारक परिषद्" नाम की एक सभा शीघ्र ही बननेवाली है। वह एक पत्र या सामयिक पत्रिका निकालेगी जिसमें हिन्दी, बङ्गला, गुजराती, मराठी और तैलंगी भाषाओं में लेख रहेंगे। पर लिपि सब की नागरी ही रहेगी। यह सभा एक देवनागरी परीक्षा भी जारी करेगी और जो बँगाली लड़के उसमें "पास" होंगे उनको सोने और चांदी के तमगे और प्रशंसापत्र भी देगी। बहुत ही अच्छा विचार है। एवं भवतु! तथास्तु!

हमारी समझ में कलकत्ते से पांच भाषाओं में पत्र निकालने से कम लाभ होगा। जिस प्रान्त का जो पत्र होता है उसी में अक्सर उसका अधिक प्रचार होता है। अतएव ऐसे पत्र

से विशेष करके बङ्गालियों ही को अधिक लाभ होने की सम्भावना है। और एक ही साथ कई भाषायें सीखना जरा कठिन भी है। इससे यदि प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय भाषा के साथ साथ सिर्फ़ हिन्दी भाषा में कोई पत्र या पत्रिका निकले और लिपि दोनों की नागरी हो तो विशेष लाभ हो। इससे नागरी लिपि सीखने में तो सुभीता होहीगा। उसके साथ हिन्दी भाषा सीखने में भी सहायता मिलेगी। अतएव एक लिपि का प्रचार हो जाने पर कुछ काल में एक भाषा के प्रचार का मार्ग भी प्रशस्त हो जायगा। एक लिपि के प्रचार के लिए गवर्नमेंट से सहायता पाने की पहले ही से इच्छा रखना व्यर्थ है। यदि सर्व-साधारण की प्रवृत्ति इस तरफ़ हुई और इस लिपि का प्रचार थोड़ा बहुत होगया तो, उस समय, प्रारम्भिक शिक्षा की पुस्तकों को नागरी लिपि में छपवाने के लिए गवर्नमेंट से प्रार्थना करना असामयिक न होगा। यदि गवर्नमेंट को मालूम हो जायगा कि लोग इस लिपि को चाहते हैं और उसका प्रचार भी हो चला है तो वह शायद इस प्रार्थना को मान ले। इस दशा में इस लिपि के सार्वदेशिक होने में कोई सन्देह न रह जायगा।

इस देश की और भाषाओं की अपेक्षा बँगला भाषा इस समय अधिक उन्नत है। इससे बङ्गालियों को अपनी लिपि को सहसा बदल डालने में सङ्कोच होना स्वाभाविक है। पर समाज-हित भी कोई चीज है। देश-कल्याणचिन्ता भी कोई वस्तु है। देश के शुभचिन्तक अपना शरीर और सर्वस्व तक

दे डालते हैं। पर एक-लिपि के लिए इतने आत्मत्याग की ज़रूरत नहीं। ज़रूरत सिर्फ़ बँगला अक्षरों की जगह नागरी अक्षरों से काम लेने की है। इसमें कठिनता ज़रूर है और थोड़ी हानि होने की भी सम्भावना है। पर भावी लाभ के सामने यह कठिनता और यह त्याग स्वदेश-प्रेमियों के लिए तुच्छ है। यदि वे बँगला पुस्तकों और पत्रों को क्रम क्रम से नागरी लिपि में छापने लगेंगे तो बँगला-साहित्य में भरा हुआ ज्ञानभाण्डार और प्रान्तवालों के लिए भी सुलभ हो जायगा। अन्य प्रान्तों में नागरी लिपि का प्रचार होने से भी यही बात होगी। प्रत्येक प्रान्त की अच्छी अच्छी पुस्तकों से देश भर को लाभ पहुंचेगा और धीरे धीरे सहानुभूति जागृत हो उठेगी। सहानुभूति से ऐक्य ज़रूर पैदा होगा। और ऐक्य के गुण कौन नहीं जानता? लिपि बदल देने से किसी पुस्तक या पत्र में लिखी गई बात का प्रभाव कम नहीं हो सकता। मराठी भाषा की पुस्तकें देवनागरी ही में प्रकाशित होती हैं। संस्कृत की अनेक पुस्तकें मदरास में तामील, तैलंगी आदि में, और बङ्गाल में बङ्गला में छपकर प्रकाशित हो रही हैं। पर इस लिपि-व्यावर्तन से उनको अणुमात्र भी हानि नहीं पहुंची।

देवनागरी लिपि के प्रचार में अनार्य्य भाषा बोलने और अनार्य्य लिपि लिखनेवालों को अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। ऐसी भाषा और ऐसी लिपि का प्रचार मदरास प्रान्त में है। पर इस प्रान्तवालों का भी थोड़ा बहुत परिचय संस्कृत से है। और संस्कृत के ग्रन्थ देवनागरी लिपि में वहां भी प्रचलित हैं।

अतएव इन ग्रन्थों को जो लोग पढ़ सकते हैं उनको नागरी लिपि से काम लेने में बहुत सुभीता होगा। एक लिपि का होना इस देशके लिए बहुत आवश्यक है और बहुत उपयोगी है। अतएव ऐसे काम के लिए श्रम, कष्ट और खर्च आदि का विचार एक तरफ़ रख कर उसे सिद्ध करना इस देश में रहनेवाले प्रत्येक आदमी को अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। बहुत सी लिपियों के होने से अनेक हानियां हैं। इस दशा में एक प्रान्तवाले दूसरे प्रान्त की भाषा में छपी हुई पुस्तकों से लाभ नहीं उठा सकते। पर यदि सब प्रान्तों में एक ही लिपि प्रचलित हो जाय तो एक प्रान्त के आर्य्य भाषा बोलनेवाले दूसरे प्रान्त की आर्य्य भाषा की पुस्तकें सहज ही में पढ़ सकें, और, ऐसी सब भाषायें संस्कृत-मूलक होने के कारण, उनका बहुत कुछ अंश वे समझ भी सकें। ऐसा होने से भिन्न भिन्न भाषाओं को अच्छी तरह जानने में भी बहुत सुभीता होगा।

अङ्गरेज़ों में से किसी किसी का मत है कि हिन्दुस्तान में रोमन अक्षरों का सार्वदेशिक प्रचार होना चाहिए। पर रोमन अक्षर यहां के लिए बिलकुल ही अयोग्य हैं। यहां की भाषायें इन अक्षरों में शुद्धता पूर्वक लिखी ही नहीं जा सकतीं। उनका अनुपयोगी होना इसीसे सिद्ध है कि गवर्नमेंट ने कचहरियों में कई बार उनके प्रचार का विचार किया। पर उनकी सदोषता और अनुपयुक्तता के कारण उसे अपने विचार को छोड़ना पड़ा। अंगरेज़ अफ़सर इन अक्षरों से परिचित होते हैं। अतएव अपने सुभीते के लिए यदि वे इनके प्रचार का

प्रस्ताव करें तो उससे सिर्फ उनकी स्वार्थ-परता सिद्ध होती है, और कुछ नहीं। जो सर्वथा निर्दोष है, जिसका प्रयोग हिन्दुओं के शास्त्रों में है, संस्कृत-साहित्य का अक्षय्य भाण्डार जिसकी बदौलत अभी तक थोड़ा बहुत विद्यमान है, उसको छोड़ कर और कोई वर्णमाला हमारे लिए हितकर और उपयोगी नहीं।

सुनते हैं, बनारस-वासी पादरी एडविन ग्रीव्ज़ हिन्दी अच्छी जानते हैं। आपने हिन्दी में दो एक निबन्ध भी लिखे हैं। एप्रिल, मे और जून १९०५ के एकीकृत "हिन्दुस्तान रिव्यू" में आपने एक लेख अँगरेज़ी में प्रकाशित कराया है। आपकी राय में छापे के लिए तो देवनागरी वर्णमाला उपयोगी है, पर लिखने के लिए नहीं। आप कहते हैं कि देवनागरी लिखने में देर लगती है। इसलिए लिखने में कैथी अक्षरों का प्रयोग होना चाहिए। आपकी राय में यदि कैथी अक्षरों का प्रयोग हो तो एक तिहाई समय की बचत हो और काग़ज़ पर से क़लम को बिना उठाये लिखनेवाला उसे दौड़ाता चला जाय। कैथी के लिए आप इतनी बातों की आवश्यकता समझते हैं—

(१) प्रत्येक वर्ण का एकही रूप निश्चित हो।

(२) यदि दो वर्णों में समानता के कारण पढ़ने में भूल होने का डर हो तो दोमें से एक का रूप कुछ बदलदिया जाय।

(३) संयुक्त-वर्ण बना लिये जायँ और उनसे काम लिया जाय।

(४) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों का प्रयोग किया जाय।

आपके लेख के साथ कैथी स्वर, व्यञ्जन और संयुक्त-वर्णों का एक नक़्शा छपा है। वह शायद आप ही की कृति है। उसे हम भी पाठकों के देखने के लिए प्रकाशित करते हैं। (चित्र न० ३ देखिये)

हम पादरी साहब के प्रस्ताव के ख़िलाफ़ हैं। आपकी कैथी-वर्णमाला में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ऊपर पाई नहीं है। इस पाई के न लगाने ही से क्या एक तिहाई समय बच सकता है? हमारी समझ में यह भ्रम है। पहले तो किसी भाषा में एक से अधिक लिपियों का होना कोई तारीफ़ की बात नहीं। अंगरेज़ी में एकसे अधिक लिपियों के होने से सीखनेवालों को—विशेष करके विदेशियों को—थोड़ी बहुत कठिनता अवश्य पड़ती है। इस बात को क्या पादरी साहब नहीं मानते? आपने जो संयुक्त वर्णों की सूची दी है वह अपूर्ण है। पहला ही वर्ण लीजिए। क + थ = क्थ (रिक्थ); क + व = क्व (पक्व); क + स = क्स (अक्स) को आपने छोड़ ही दिया है। इसी तरह और संयोगी वर्णों के रूप भी आपने नहीं दिये। शायद आपने यह सूची नमूने के तौर पर दी हो; सब वर्णों का योग, जान बूझ कर, आपने न दिखाया हो। ख़ैर, कुछ भी हो, एक बात ज़रूर है कि सब संयोगी वर्णों का रूप निश्चित करने में संयुक्त वर्णों की संख्या बहुत बढ़ जायगी। इन सब वर्णों को लिखने का अभ्यास करना परिश्रम का काम है। जिस समय यह प्रस्ताव हो रहा है कि जिन प्रान्तों में देवनागरी लिपि प्रचलित नहीं उनमें उसका प्रचार

किया जाय, उस समय लिखने के लिए कैथी लिपि का प्रस्ताव करना मानो मूल प्रस्ताव में बाधा डालना है। क्योंकि लिखने में कैथी अक्षरों के प्रयोग के प्रस्ताव का अर्थ यह होता है कि यदि कोई बँगाली अथवा गुजराती, देवनागरी लिखने पढ़ने का अभ्यास करना चाहे तो उसे दो तरह की वर्णमालायें और बहुत से नये संयुक्त वर्ण सीखने पड़ें। इससे उसकी मेहनत दूनी हो जायगी और, सम्भव है, उन्हें सीखने का वह साहस ही न करे। अतएव यदि कैथी के पक्ष में प्रबल प्रमाण दिये भी जा सकें तो भी इस प्रस्ताव के अनुकूल यह समय नहीं।

फिर, क्या सचमुच ही कैथी की वर्णमाला ऐसी है जो बिना क़लम उठाये कोई उसे लिखता चला जाय? हमारी मन्द बुद्धि में तो वह ऐसी नहीं। उदाहरण के तौर पर देवनागरी और कैथी के कवर्ग वर्णों का मुक़ाबला (नक़्शा देखकर) कर लीजिए। देखिए, इन वर्णों में सिवा ऊपर की पाई के और कौन बड़ा फ़र्क़ है। तो क्या सिर्फ़ ऊपर पाई न लगाने ही से क़लम बराबर दौड़ सकती है? हमारी समझ में नहीं। ग्रीब्ज़ साहब अपनी बात को सप्रमाण सिद्ध करें तो शायद हम समझ जायं। आपकी एक बात और भी हमारी समझ में नहीं आई। आपने ष और ख का कैथी में एक ही रूप रक्खा है। यह क्यों?

यदि ऊपर पाई लगाने ही से किसी लेखक के समय का सर्वनाश होता हो तो वह काग़ज़ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकदम ही एक लकीर खींच सकता है। पर क्या

देवनागरी लिखने में सचमुच ही कैथी से एक तिहाई अधिक समय लगता है? हमारी प्रार्थना है कि ग्रीअर्सन साहब किसी अच्छे नागरी-लेखक को किसी कैथी लिखनेवाले के साथ बिठलाकर इसकी परीक्षा करें। जिनको लिखने का अभ्यास है वे कैथी ही नहीं, घसीट उर्दू लिखनेवालों तक की बराबरी कर सकते हैं। किम्बहुना, कोई कोई उनको मात भी दे दें तो असम्भव नहीं। पादरी साहब की नागरी लिपि देखने का तो सौभाग्य हमें हुआ नहीं, पर परलोकवासी पिन्काट साहब की दो एक चिट्ठियां हमारे पास हैं। वे नागरी में हैं। उनको देखने से जान पड़ता है कि पिन्काट साहब ने एक एक अक्षर एक एक मिनट में लिखा होगा। यदि ऐसे लेखक कैथी लिखनेवालों से कोसों पीछे पड़े रह जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं।

[अगस्त १९०५

६—हिन्दी भाषा और उसका साहित्य ।

इस विषय में अनेक लेख समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं; पुस्तकें तक लिखी जा चुकी हैं। अतएव यहां पर, इस सम्बन्ध में, कुछ लिखना पिष्ट-पेषण ही होगा। तथापि, कई सज्जनों की प्रेरणा से हम भी इस विषय में, कुछ लिखने के लिए विवश किये गये हैं। यह विषय गहन है; इसके लिए विशेष स्थल, विशेष विद्या बुद्धि और विशेष योग्यता अपेक्षित है। अतः, इस छोटे से लेख में, हम, यथाशक्ति और यथामति, स्थूल ही स्थूल बातों का विवेचन करेंगे।

पहले हम 'हिन्दी' शब्द की उत्पत्ति का विचार करना चाहते हैं। हिन्दी के दो अर्थ हैं। एक 'हिन्दुओं की भाषा'; दूसरा 'हिन्द (हिन्दुस्थान) की भाषा'। ये दोनों अर्थ बहुत व्यापक हैं। दोनों ही यह सूचित करते हैं कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है। यदि इसे हिन्द की भाषा मानें तो यह सारे देश की भाषा हुई, और यदि हिन्दुओं की भाषा मानें तो सारे हिन्दुओं की भाषा हुई। हिन्दू ही इस देश में और जातियों से अधिक बसते हैं। इसलिए, पहले अर्थ में भी हिन्दी की व्यापकता का गौरव, किसी प्रकार, कम नहीं। क्योंकि ऐसा कौन प्रान्त है जहां हिन्दू नहीं? और ऐसी कौन जाति है जो हिन्दी नहीं समझती! अतः, इस देश की यदि कोई एक भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है।

'हिन्द' शब्द फ़ारसी भाषा का है। वह हिन्दुओं के देश ही का बोधक है। जान पड़ता है 'हिन्द' ही से अंगरेज़ी 'इंडिया' शब्द की उत्पत्ति हुई है। फ़ारसी शब्द 'हिन्द' बहुत पुराना है। उसका प्रचार, इस देश में, मुसलमानों के द्वारा हुआ। सम्भव है, इस देश के निवासी हिन्दुओं ही के नामानुकूल फ़ारसवालों ने 'हिन्द' शब्द की उत्पत्ति की हो। संस्कृत के व्याकरण के अनुसार 'हिन्दी' शब्द की उत्पत्ति का विचार करने में पहले 'हिन्दू' शब्द को सिद्ध करना पड़ेगा, क्योंकि हिन्दुओं ही की भाषा का नाम 'हिन्दी' है। संस्कृत में एक धातु 'हिंसि' है। उसका अर्थ 'हिंसा करना' है। इस 'हिंसि' धातु से कर्त्रर्थक प्रत्यय करने से 'हिन्न्' और 'हिंसक' आदि शब्द सिद्ध होते हैं। इन शब्दों में 'खण्डन' और 'परिताप' अर्थ के बोधक 'दो' और 'दूङ्' धातुओं के योग से क्रमशः 'हिन्दु' और 'हिन्दू' शब्द सिद्ध होते हैं। अतएव 'हिन्दू' शब्द का धात्वर्थ 'हिंसा करनेवालों को खण्डन करने अथवा सन्ताप पहुंचाने वाला' हुआ। यह उपपत्ति इस देश के सब मतवालों के अनुकूल जान पड़ती है। वेदान्त आदि षड्दर्शन तथा वैदिक, बौद्ध और जैन सिद्धान्तों के अनुयायी, सभी, व्यर्थ हिंसा न करना अपने मत का एक प्रधान अङ्ग मानते हैं। अतएव हिंसा करनेवालों से प्रतिकूलता करना उनके लिए स्वाभाविक ही है। 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। एक स्थल में तो उसका अर्थ भी लिखा है। देखिए—

हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।

मेरुतन्त्र, २३वां प्रकाश।

अर्थात् हीन लोगों पर जो दोषारोपण करे उसे हिन्दू कहते हैं। यह अर्थ भी हमारे पूर्वोक्त अर्थ से प्रायः मिलता है। भेद इतना ही है कि यहां पर हिंसक अर्थ न लेकर हीन अर्थ लिया गया है। फ़ारसी भाषा में 'हिन्दू' शब्द जो काले के अर्थ में व्यवहृत होता है वह मुसल्मानों की कृपा का फल है।

व्याकरण से जब 'हिन्दू' शब्द सिद्ध हो गया तब हिन्दुओं की भाषा 'हिन्दी' आप ही सिद्ध हो गई। उसके पृथक् सिद्ध करने की आवश्यकता न रही। तथापि वह एक दूसरे प्रकार से भी सिद्ध हो सकती है। यथा—'हिन्दू' शब्द से, स्त्रीलिङ्ग में तद्धित प्रत्यय करने से 'हैन्दवी' शब्द हुआ। उसके अपभ्रंश 'हिन्दवी,' 'हिन्दुई' और 'हिँदुई' हुए। 'हिँदुई' तो अब तक कहीं कहीं बोला जाता है। होते होते इसी 'हिँदुई' का 'हिन्दी' हो गया।

इस देश में बोली-जाने-वाली भाषायें दो बड़े बड़े भागों में विभक्त हैं—एक आर्य्य भाषा, दूसरी द्राविड़-भाषा।

द्राविड़ भाषाओं में कनारी, तामिल, तैलंगी और मलायालम् मुख्य हैं। ये भाषायें मदरास की ओर बोली जाती हैं। जहां से आर्य्य भाषा की उत्पत्ति है वहां से, द्राविड़ भाषा की उत्पत्ति नहीं, इसीलिए आर्य्य और द्राविड़ ये दो विभाग करने पड़े।

आर्य्य भाषा के मुख्य सात विभाग हो सकते हैं। यथा—हिन्दी, पञ्जाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उड़िया और बँगला।

इनके अतिरिक्त और भी कई विभाग किये जा सकते हैं, परन्तु वे विभाग गौण हैं और इन्हीं सातों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन सातों भाषाओं में हिन्दी सबसे प्रधान है। पूर्व में गण्डक नदी से लेकर पश्चिम में पञ्जाब तक, और उत्तर में कमायूं से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत के भी उस पार तक की प्रचलित भाषा हिन्दी ही है। सच तो यह है कि हिन्दी बोलने-वालों की सीमा नहीं बांधी जा सकती। वह देश-व्यापक भाषा है। उसके बोलने और समझनेवाले किस प्रान्त में नहीं?

आदि में इस देश की भाषा संस्कृत थी। विद्वानों का अनुमान है कि आज से कोई २५०० वर्ष पहले सर्वसाधारण के बोलचाल में इस भाषा का प्रयोग उठ गया। उसके अनन्तर प्राकृत भाषाओं का प्रचार हुआ। जो प्रकृति—स्वभाव—से उत्पन्न हो उसे प्राकृत कहते हैं। अर्थात् ये प्राकृत भाषायें स्वाभाविक रीति पर, आप ही आप, संस्कृत से उत्पन्न हो गई थीं। इन प्राकृत भाषाओं के कई भेद हैं। उनमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी अर्थात् पुरानी पाली, पैशाची और अपभ्रंश ये पांच मुख्य हैं। यद्यपि संस्कृत का बोलचाल उठ गये हज़ारों वर्ष हुए, तथापि विद्वान् लोग अपने ग्रन्थ इसी भाषा में लिखते रहे और अब तक भी लिखते हैं। संस्कृत भाषा के प्रवीण पण्डित इसे, समय पड़ने पर, बोलते भी हैं। परन्तु गौतम बुद्ध ने सर्वसाधारण को अपने उपदेश प्राकृत ही में दिये। बौद्ध-सम्प्रदाय के ग्रन्थ

भी प्राकृत ही में हैं। जो प्रजामात्र की भाषा हो उसीमें उपदेश देना और उसीमें ग्रन्थ लिखना हितकर होता भी है। इस समय, हमारी भाषा हिन्दी है। अतएव विचारने की बात है कि यदि देहली दरबार का वृत्तान्त संस्कृत में लिखा जाय तो वह कितना लाभकारी होगा और उसे कितने लोग समझ सकेंगे ?

हिन्दी भाषा में कई प्राकृत भाषाओं के बीज हैं, परन्तु विशेष करके वह सौरसेनी से उत्पन्न हुई है। प्राचीन समय में मथुरा और उसके आसपास का प्रदेश 'सूरसेन' कहलाता था। इसी प्रदेश की भाषा का नाम सौरसेनी था। स्वाभाविक रीति पर फेरफार होते होते इसी सौरसेनी से हिन्दी उत्पन्न हुई और क्रम क्रम से वह रूप प्राप्त हुआ जिस रूप में हम उसे, इस समय, देखते हैं। प्राकृत भाषाओं में भी अनेक शब्द संस्कृत के विद्यमान थे। उनमें से अनेक शब्द हिन्दी में भी वैसे ही बने हुए हैं और प्रतिदिन बोलचाल में आते हैं। उदाहरणार्थ, माता, पिता, पुत्र, कवि, पण्डित, क्रोध, लोभ, मोह, इत्यादि। बहुत शब्द प्राकृत के भी अपने पूर्व-रूप में बने हुए हैं, परन्तु विशेष करके वे परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। प्राकृत के परिवर्तित शब्द अनेक हैं। उदाहरण के लिए हम, यहां दो चार शब्द लिखते हैं:—

हिन्दी	प्राकृत	संस्कृत
काम	कम्म	कर्म्म
कान	कण्ण	कर्ण

हिन्दी	प्राकृत	संस्कृत
आठ	अट्ठ	अष्ट
हाथ	हत्थ	हस्त
बात	वत्ता	वार्त्त
आज	अज्ज	अद्य
आग	अग्गि	अग्नि
दूध	दुद्ध	दुग्ध
कहा	कहिओ	कथितः

सम्पर्क से भाषाओं में परिवर्तन हुआ ही करता है। सहवास के अनुसार गुण-दोष ग्राही जाते हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। हिन्दी में संस्कृत और प्राकृत शब्दों के मेल के सिवा, मुसलमानों के सम्पर्क से अनेक शब्द, फ़ारसी, अरबी और तुर्की तक के आ गये हैं। यह सभी जानते हैं। मुसलमानों के मेल से 'बदलना' और 'दागना' इत्यादि विलक्षण प्रकार की क्रियायें तक हिन्दी में बन गई हैं। भिन्न भिन्न भाषायें बोलनेवालों के योग से भाषाओं में अवश्यही परिवर्तन होता है। इस देश में योरप से पहले पहल पोर्त्तगीज़ लोग आये। उन्होंने भी कुछ शब्द हिन्दी में प्रविष्ट कर दिये। उनके द्वारा प्रयोग किये गये 'केमरा' (Camera) का 'कमरा' हो गया और हैमर (Hammer) से 'हथौड़ा' की उत्पत्ति हुई। अंगरेज़ों के योग से तो अनेक शब्द नये बने और प्रतिदिन बनते जाते हैं। 'अपील', 'डिगरी', 'इञ्च', 'फुट', 'जज्ज', 'डाक्टर', 'कमिश्नर, 'अस्पताल', 'बोतल', इत्यादि शब्द अब हिन्दी बन बैठे हैं और गावों में स्त्रियां और लड़के तक

उनको बोलते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह हमारी हिन्दी संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पोर्त्तुगीज़ और अंगरेज़ी आदि भाषाओं की खिचड़ी है। ऐसा होना कोई लज्जा, अथवा हानि, अथवा दोष की बात नहीं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार, सम्पर्क से, भाषाओं में परिवर्तन हुआ ही करता है। इस जगत् में ऐसी एक भी भाषा न होगी जिसने किसी अन्य भाषा का एक भी शब्द न ग्रहण किया हो।

कोई कोई हिन्दी को नागरी कहते हैं। यह उनकी भूल है। नागरी कोई भाषा नहीं। नागरी एक लिपि विशेष का नाम है। नागर अक्षरों में जो लिपि लिखी जाती है उसे नागरी कहते हैं। नागरी अक्षरों में हिन्दी, फ़ारसी, बङ्गला, गुजराती इत्यादि सभी भाषायें लिखी जा सकती हैं। अतएव यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी एक भाषा का नाम है और नागरी एक लिपि का।

हिन्दी-साहित्य का काल-निर्णय करने के विषय में हिन्दी लेखकों में कई बार वादविवाद हुआ है। इस प्रकार के वाद-विवाद से हम कोई विशेष लाभ नहीं देखते। यह एक अत्यन्त गौण विषय है। मुख्य विषय साहित्य की उन्नति करना है। हिन्दी का साहित्य बड़ी ही दुरवस्था को प्राप्त हो रहा है। उसकी अभिवृद्धि करने की इच्छा से अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखना इस समय अत्यावश्यक है। हिन्दी बोलनेवालों का यह परम धर्म्म है। काल-निर्णय के सम्बन्ध में शुष्क विवाद करते बैठना व्यर्थ काल-क्षय करना है।

हिन्दी-साहित्य के, कई प्रकार से, कई भाग हो सकते हैं। हम समझते हैं कि यदि उसके—प्राचीन, माध्यमिक और आधुनिक—ये तीन ही विभाग किये जायं तो भी उसकी विभाग-परम्परा नहीं बिगड़ सकती। ये तीन विभाग इस प्रकार किये जा सकते हैं।

१ प्राचीन—१२०० से १५७० ईस्वी तक।
२ माध्यमिक—१५७० से १८०० ईस्वी तक।
३ आधुनिक—१८०० से आज तक।

हिन्दी साहित्य के इन तीनों विभागों का उल्लेख, संक्षेप पूर्वक, यथाक्रम, हम यहां पर करते हैं।

प्रामाणिक रीति पर इसका, इस समय, पता लगाना बहुत कठिन है कि कब प्राचीन हिन्दी प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई, अथवा कब प्राचीन हिन्दी के साहित्य की सृष्टि हुई, और किस विषय की कौन पुस्तक पहले पहल लिखी गई। अवन्ती के राजा मान के यहां ८२६ ईस्वी में पुष्प नामक एक कवि था। सुनते हैं उसीने पहले पहल हिन्दी में कविता की। राजपूताना में वेणा-नामक एक हिन्दी का कवि ११९८ ईस्वी में हो गया है। जगनिक कवि, वेणा के भी पहले, अर्थात् ११८० ईसवी में विद्यमान् था। परन्तु इन कवियों का एक भी सर्वमान्य ग्रन्थ [illegible]ता। किसी किसीका उल्लेख राजस्थान में है; किसीका कहीं; किसीका कहीं। किसीके दो चार पद्य मिले भी तो उससे वह ग्रन्थकार नहीं कहा जा सकता। इन बातों से इतना अवश्य

जाना जाता है कि हिन्दी की कविता नवीं शताब्दी में होने लगी थी। अतएव, जब तक और प्राचीन पुस्तकें उपलब्ध न हों तब तक बारहवीं शताब्दी में होनेवाले चन्द ही को प्राचीन हिन्दी के साहित्य का पिता कहना पड़ता है। चन्द का पृथ्वीराज रासौ ही, इस हिसाब से, प्राचीन हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ की छन्दो-रचना और आलङ्कारिक-वर्णन की प्रणाली इस बात का साक्ष्य अवश्य देती है कि चन्द के पहले हिन्दी के और कई कवि हो चुके हैं।

यद्यपि पृथ्वीराज रासौ के अनेक स्थलों में सरस और चित्त को उत्तेजित करनेवाले वर्णन हैं, तथापि सब बातों का विचार करके यही कहना पड़ता है कि उसमें शब्दों का प्राचुर्य्य अधिक और अर्थ का प्राचुर्य्य कम है। प्राचीनता के विचार से रासौ हिन्दी बोलनेवालों के आदर का पात्र है। इतिहास के विचार से भी वह उपादेय है। इन बातों को सभी स्वीकार करेंगे। परन्तु काव्यांश में वह हीन है। इसका कारण एक तो यह है कि उसकी प्राचीन भाषा, जिसमें टवर्ग और द्वित्व से अधिक काम लिया गया है, कान को अच्छी नहीं लगती। दूसरा कारण यह भी है कि पढ़ने के साथ ही, सब कहीं, अर्थ का तत्काल बोध न होने से उसे पढ़ कर मन मुदित नहीं होता। वीर-रसात्मक काव्य होने के कारण, सम्भव है, चन्द ने जान बूझ कर टवर्ग अधिक प्रयोग किया हो और रचना में कठोरता उत्पन्न करने के लिए अक्षरों को द्वित्व भी शायद जान बूझ कर ही प्रदान किया हो।

नामदेव, कबीर और दादू इत्यादि भक्तों ने भी हिन्दी साहित्य के इसी विभाग के अन्तर्गत पद्य रचना की है। कबीर और दादू की कविता का बड़ा आदर है, परन्तु इनकी कविता सरल नहीं। दादू के कोई कोई पद्य बहुत ही अच्छे हैं। यद्यपि वे प्राचीन हैं तथापि कहीं कहीं उनकी कविता में प्राचीनता के विशेष चिह्न नहीं, गुरु नानक का आदि ग्रन्थ (अर्थात् गुरु नानक से लेकर गुरु अर्जुन तक का संग्रह) भी हिन्दी साहित्य ही के अन्तर्गत समझना चाहिए, क्योंकि उसकी भाषा पञ्जाबी की अपेक्षा प्राचीन हिन्दी से अधिक मिलती है। गुरु नानक की मृत्यु १५३८ ईस्वी में हुई। कबीर, दादू और नामदेव, ये तीनों महात्मा गुरु नानक से पहले हुए हैं। इनके अतिरिक्त १२०० और १५७० ईस्वी के बीच मीराबाई, सारङ्ग-धर और राना कुम्भ इत्यादि कई और कवियों ने भी कविता की है, परन्तु रासौ के समान उनके ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं हैं और उन सबका उल्लेख इस निबन्ध में आ भी नहीं सकता। हां, १५६०में मलिक महम्मद जायसी ने पद्मावत नामक एक अच्छा काव्य बनाया। वह अब तक आदर के साथ पढ़ा जाता है। उसकी भाषा रासौ की भाषा के समान यद्यपि क्लिष्ट नहीं, तथापि हिन्दी के माध्यमिक साहित्य में गिने जाने के योग्य सरल भी नहीं।

प्राचीन हिन्दी-साहित्य में गद्य का तो नाम ही न लीजिए। पद्य में भी दो ही चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। भाषा के वाङ्मय की समग्र सामग्री को साहित्य कहते हैं, दो चार काव्यों को

नहीं। परन्तु हमारे प्राचीन साहित्य की सामग्री बहुत ही थोड़ी है।

हिन्दी साहित्य के माध्यमिक विभाग में उसकी विशेष उन्नति हुई। सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, व्रजवासीदास, बिहारी लाल इत्यादि प्रसिद्ध कवि इसी समय हुए। यदि इनके ग्रन्थ निकाल लिये जायं तो हिन्दी भाषा के साहित्य में प्रायः शून्य ही रह जाय। इस काल में दो एक ऐसे भी कवि हुए हैं जिनकी भाषा तुलसीदास आदि की भाषा से नहीं मिलती। परन्तु इन कवियों की प्रयोग की गई भाषा ऐसी नहीं है कि वह चन्द की भाषा से मिलती हो। अतएव हिन्दी के प्राचीन साहित्य की भाषा के साथ उसे आसन नहीं दिया जा सकता। उसमें यद्यपि अन्तर है, तथापि उसका झुकाव माध्यमिक कवियों ही की भाषा की ओर है।

इसी समय नाभा जी ने अपना भक्तमाल बनाया। माध्यमिक काल में व्रजभाषा ने यद्यपि कवियों पर अपना पूरा पूरा अधिकार जमा लिया था और उस भाषा में ऐसे ऐसे ग्रन्थ निकलने लगे थे जो सर्व-साधारण की समझ में आ जायं, तथापि नाभा जी में यह बात नहीं पाई जाती। उनकी कविता बहुत विलक्षण है। किसी किसी का तो यह मत है कि यदि कृष्णदास और प्रियादास भक्तमाल की टीका न बनाते तो नाभा का भावार्थ समझने में बड़ी ही कठिनता उपस्थित होती। दुर्दैववश ये टीकायें भी विशेष सरल नहीं, तथापि मूल का आशय समझने में थोड़ी बहुत सहायता देती ही हैं। नाभा

जी की भाषा माध्यमिक काल के कवियों की भाषा से, क्लिष्टता में बढ़ी चढ़ी है।

इस समय हिन्दी के अनेक उत्तमोत्तम कवि हुए। परन्तु कविता ही की ओर सबका ध्यान रहा। कवियों का ध्यान कविता के सिवा और किस ओर हो सकता है? छन्द, अलङ्कार, नायिकाभेद आदि पर भी अनेक ग्रन्थ, इसी समय, बने। भगवद्भक्तों ने अपने अपने इष्ट देवता के गुण-गान से गर्भित अनेक पुस्तकें लिखीं। विहारीलाल ने अपने ७०० दोहों में शृंगार रस की पराकाष्ठा कर दी, सूरदास ने अपने पदों में भक्ति की पराकाष्ठा कर दी और भूषण ने अपनी कविता में वीर रस की पराकाष्ठा कर दी। सूर, तुलसी, बिहारी और केशव इस माध्यमिक साहित्य की आत्मा हैं; अन्य सहस्रावधि कवियों के होते हुए भी इनके बिना साहित्य-शरीर को निर्जीव ही समझना चाहिए।

जिस समय व्रजभाषा के रूप में हिन्दी अपना आधिपत्य जमा रही थी उसी समय उसकी एक दूसरी शाखा उससे पृथक् हो गई। इस शाखा का नाम उर्दू है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह भी हिन्दी ही है। उसमें चाहे कोई जितने फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द भर दे उसकी क्रियायें हिन्दी ही की ·नी रहती हैं; उसकी रचना हिन्दी ही के व्याकरण का अनुसरण करती है। चाहे कोई जो कुछ कहे, वली और सौदा के काव्यों में जो भाषा है, वही तुलसीदास और बिहारी लाल के भी काव्यों में है: 'मेरा बाप' के स्थान

में 'बाप मेरा' अथवा 'आप के हुक्म से' के स्थान में 'ब हुकम आपके' करने से कहीं भाषा दूसरी हो सकती है? वही 'बाप', वही 'मेरा', वही 'हुक्म' और वही 'आप' दोनों प्रकार के उदाहरणों में विद्यमान हैं। लिखने की प्रणाली को बदलने अथवा उस में किसी अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करने से मुख्य भाषा के अस्तित्व में कदापि अन्तर नहीं आ सकता। उर्दू दूसरी भाषा तभी गिनी जा सकती है जब उसके प्रेमी उसके सारे क्रियापदों को बदल दें और साथ ही हिन्दी-व्याकरण के अनुसार बने हुए कारक चिह्नों को भी बदल दें। यह अब, इस समय, होना असम्भव जान पड़ता है। यदि कोई कहे कि जिसे हम शुद्ध हिन्दी कहते हैं वह भी उर्दू ही है तो हम उसे उन्मत्त अथवा भूमिष्ट कहेंगे। फ़ारसी और अरबी के शब्दों से मिली हुई उर्दू-नामधारिणी हिन्दी अभी कल उत्पन्न हुई है। १९वीं शताब्दी के पहले उसके साहित्य का नाम तक न था। परन्तु नवीं शताब्दी ही में हिन्दी में कविता होने लगी थी और बारहवीं शताब्दी के तो ग्रन्थ विद्यमान हैं। अतएव उर्दू साहित्य के कम से कम ५०० वर्ष पहले जिस भाषा के साहित्य का पता लगे वह भाषा उर्दू से उत्पन्न हुई किस प्रकार समझी जा सकती है। उर्दू-नामधारिणी हिन्दी में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता होने और देवनागरी अक्षरों को छोड़ कर फ़ारसी अक्षरों में उसके लिखे जाने से जो लोग उसे एक भिन्न भाषा समझते हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। वह कदापि भिन्न भाषा नहीं। वह भी सर्वथा हिन्दी ही है। संस्कृत

शब्दों की प्रचुरता होने से जैसे हमारी विशुद्ध हिन्दी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती वैसे ही फ़ारसी आदिक विदेशी शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू-नामधारिणी हिन्दी भी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती। अथवा रोमन किंवा बँगला अक्षरों में लिखी जाने से जैसे विशुद्ध हिन्दी अन्य भाषा नहीं मानी जा सकती वैसे ही फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाने से उर्दू भी कोई अन्य भाषा नहीं मानी जा सकती। इससे अधिक स्पष्ट और कौन दृष्टान्त हो सकता है?

जब से मुसलमानों ने इस देश में पदार्पण किया, तभी से फ़ारसी शब्द हिन्दी बोलचाल में आने लगे। शब्दों के मेल का आरम्भ नवीं शताब्दी में हुआ। यही अनुमान सम्भव जान पड़ता है। क्योंकि अँगरेज़ों के आगमन से यदि हिन्दी में उनकी भाषा के शब्द बोले जाने लगे तो मुसलमानों के आने पर उनकी भाषा के शब्द भी अवश्य बोले जाने लगे होंगे। परन्तु १६वीं शताब्दी तक उन शब्दों का प्रयोग लिखने में नहीं हुआ। मुसलमान बादशाहों ने राज्य के दफ्तरों की भाषा फ़ारसी ही रक्खी थी, अतः जिसे अब हम उर्दू कहते हैं उसके प्रयोग की कोई आवश्यकता ही न थी। १६०० ईसवी के पहले जो मुसलमान कवि हुए हैं उन्होंने हिन्दी ही में कविता की है; फ़ारसी के छन्दःशास्त्र के अनुकूल प्रायः एक भी छन्द उन्होंने नहीं लिखा। जब से टोडरमल ने लगान-सम्बन्धी नये नियम प्रचलित किये और हिन्दू-अधिकारियों को फ़ारसी पढ़ने के लिए विवश किया, तभी से फ़ारसी शब्द

हमारी लिखित भाषा और हमारी बोली में अधिकता से प्रयुक्त होने लगे। मुसलमानों के सम्पर्क से यद्यपि फ़ारसी शब्द बोलचाल में पहले से भी आने लगे थे तथापि उनका प्राचुर्य्य टोडरमल के समय ही से हुआ। अतएव यह कहना चाहिए कि, विशेष करके फ़ारसी शब्दों के प्रयोक्ता हिन्दू ही हैं। अब भी हम देखते हैं कि जब अंगरेज़ी पढ़े लिखे इस देश के लोग अपनी भाषा बोलते हैं तब वही अँगरेज़ी शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। हिन्दी बोलते समय अङ्गरेज लोग बहुत ही कम अँगरेज़ी शब्द काम में लाते हैं। यदि उनको कोई हिन्दी शब्द स्मरण नहीं आता तभी वे, विवश होकर, हिन्दी बोलते समय, अपनी भाषा का शब्द कह कर अपने मन का भाव प्रकट करते हैं। विद्वानों का मत है कि पहले पहल मुसलमान फ़ारसी मिली हुई हिन्दी बहुत कम बोलते थे। परन्तु जब से हिन्दुओं ने फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया और बोलचाल में वे फ़ारसी शब्द प्रयोग करने लगे तब से मुसलमान भी हिन्दुओं की उस ओर प्रवृत्ति देख उसी प्रकार की भाषा अधिक प्रयोग में लाने लगे। इससे यह फल निकला कि फ़ारसी मिली हुई हिन्दी (अर्थात् उर्दू) की उत्पत्ति में पहले पहल हिन्दुओं की भी सहायता रही है।

'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है। उसका अर्थ पड़ाव, डेरा अथवा तम्बू है। जब अमीर तैमूर देहली आया, तब उसने अपने पड़ाव का बाज़ार शहर में लगवा दिया। अतएव देहली का बाज़ार 'उर्दू' कहलाया जाने लगा। तभी से इस

शब्द की उत्पत्ति हुई। अकबर के समय में जब अनेक देशों से अनेक जातियों के लोग देहली में एकत्र होने लगे और प्रति दिन के हेलमेल से जब उन सबको परस्पर एक दूसरेसे बात-चीत करने का काम पड़ने लगा तब एक नये प्रकार की बोली प्रचार में आई और वही क्रम क्रम से उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हो गई।

अब प्रश्न यह है कि उर्दू की कविता कब से होने लगी। यह प्रश्न नहीं है कि फ़ारसी मिली हुई हिन्दी कब से बोली जाने लगी; क्योंकि उसका कुछ कुछ आरम्भ नवीं शताब्दी ही में होगया था। और न यही प्रश्न है कि फ़ारसी अक्षरों में उर्दू कब से लिखी जाने लगी, क्योंकि किसी भाषा की लिपि का उत्पन्न होना गौण विषय है; मुख्य विषय स्वयं उस भाषा का उत्पन्न होना है। प्रश्न यह है कि फ़ारसी के छन्दःशास्त्र के अनुसार, पहले पहल, हिन्दी में कब पद्यरचना हुई; क्योंकि उसी समय उस प्रकार के साहित्य की उत्पत्ति समझनी चाहिए जिस प्रकार के साहित्य को हम उर्दू का साहित्य कहते हैं। इस प्रकार की छन्दोरचना सोलहवीं शताब्दी में हुई। अर्थात् सोलहवीं शताब्दी की हिन्दी की एक शाखा हिन्दी से अलग होकर, और फ़ारसी के शब्दों को अपना साथी बना कर, उसी भाषा के छन्दोरूपी वस्त्र धारण करके पद्य के आकार में प्रकट हुई।

उर्दू के सम्बन्ध में हमको, यहां पर, कुछ विस्तार करना पड़ा। यह विषय विचारणीय था; इसीलिए हमको यहां

पर इतना लिखना पड़ा। उर्दू का साहित्य भी, एक प्रकार से, हिन्दी ही का साहित्य है। अतएव, आगे चलकर, हमको इस साहित्य पर अभी कुछ और लिखना पड़ेगा।

पूर्वोक्त कथन से यह सूचित हुआ कि माध्यमिक काल में हिन्दी साहित्य के दो भेद हो गये—एक ब्रजभाषा का साहित्य ; दूसरा उर्दू का साहित्य। इस काल में भी, उर्दू में दो एक ग्रन्थों को छोड़ कर, गद्य का कोई ग्रन्थ शुद्ध हिन्दी में नहीं बना। समस्त साहित्य छन्दोबद्ध ही रहा। विशेषता इस काल में इतनी हुई कि चरित, आख्यायिका और मनोरञ्जक कहानियों की उत्पत्ति कहीं कहीं होने लगी।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ समझना चाहिए। इस काल में मुख्य बात यह हुई कि लल्लूजी और सदल मिश्र ने गद्य में ग्रन्थ लिखने की परिपाटी प्रचलित की। लल्लू लाल और सदल मिश्र ने इस रचना का आरम्भ अवश्य किया और उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु विशेष धन्यवाद के पात्र फोर्टविलियम कालेज के अधिकारी डाक्टर गिलक्राइस्ट हैं। उन्होंने कई हिन्दी और उर्दू के विद्वानों को अपने आश्रय में रक्खा और उनसे अच्छे अच्छे उपयोगी ग्रन्थ गद्य में लिखवाये। अतएव हम लोग, गद्य के सम्बन्ध में, पूर्वोक्त डाक्टर साहब के विशेष कृतज्ञ हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में जो कुछ हुआ है और जो कुछ हो रहा है वह हिन्दी के प्रेमियों से छिपा नहीं। इसलिए इस निबन्ध में हम उसका विचार नहीं करना चाहते।

समाचारपत्र, मासिक पुस्तक, उपन्यास, प्रहसन, नाटक, जीवनचरित और समालोचनाओं का जन्म इसी काल में हुआ। परन्तु, जहां तक हम जानते हैं, साहित्य का बर्णन पुस्तकाकार आज तक किसी हिन्दी के ज्ञाता ने नहीं किया। हिन्दी की दशा बड़ी ही हीन हो रही है। अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें एक भी हिन्दी का ग्रन्थ नहीं। अतएव, इस दशा में साहित्य के इतिहास बनने की आशा रखना व्यर्थ है। हमलोगों के आलस्य और निरुत्साह की सीमा नहीं। अपनी मातृभाषा से हमलोगों को कुछ भी रुचि नहीं। यह बड़े शोक और लज्जा की बात है। हमको पाश्चात्य पण्डितों की विद्याभिरुचि और उनके उद्योग को देख कर भी लज्जा नहीं आती। हम यात्रा-सम्बन्धी अथवा इतिहास-सम्बन्धी एक छोटी सी भी अच्छी पुस्तक नहीं लिख सकते; परन्तु फ्रांस के विद्वान् दस हजार मील दूर बैठकर हमारी हिन्दी-भाषा का इतिहास लिखते हैं। यम० गार्सन० डि्टासी फ्रांस के निवासी थे। उन्होंने हिन्दी-भाषा का इतिहास लिखा है। यही नहीं, किन्तु १८५० से १८७७ ईस्वी तक इस भाषा में जो कुछ परिवर्तन हुआ और जो जो समाचारपत्र अथवा पुस्तकें नाम लेने योग्य निकलीं उनकी भी आलोचना उन्होंने की है। हार्नले, बीम और ग्रियर्सन साहबों ने भी हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ कम नहीं लिखा। परन्तु हमलोग मुँह फैलाये बैठे हैं। कहीं दो चार उपन्यास लिख कर पेट पालने का हमने यत्न किया; कहीं एक आध मोहिनी अथवा रोहिणी नामक मासिक पत्रिका लिख कर

अपनी विद्वत्ता प्रकट की ; कहीं कभी वर्ष छः महीने के लिए एक समाचारपत्र निकाल कर सम्पादक बन बैठे ! बस यही किया !! और कुछ नहीं !!!

आधुनिक काल में जो कुछ उन्नति हिन्दी की हुई उसके विशेष कारण पण्डित वंशीधर बाजपेयी, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद और पण्डित प्रतापनारायण इत्यादि प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखक हैं। जीवन चरित, नाटक, समालोचना, मासिक पुस्तक और समाचारपत्र इत्यादि लिखना और निकालना पण्डित बंशीधर और बाबू हरिश्चन्द्र ही ने हम सबको सिखलाया। जो कुछ इस समय हिन्दी में देख पड़ता है उसका सूत्रपात प्रायः उन्हीं ने किया। नागरी-प्रचारिणी-सभा भी, अब, इस समय, हिन्दी की बहुत कुछ उन्नति कर रही है। उसीके उद्योग से हिन्दी को गवर्नमेंट ने कचहरियों में स्थान दिया है।

इस समय देखने में आता है कि जो लोग किसी प्रकार समाचारपत्र अथवा पुस्तक लिखने के योग्य नहीं वे भी हाथ की चपलता दिखाये बिना नहीं रहते। यह बहुत बुरी बात है। मनुष्य को अपनी योग्यता अथवा अयोग्यता का विचार करके कोई काम करना चाहिए। इस प्रकार के लेखक अपना तो उपहास कराते ही हैं ; अपने साथ हिन्दी भाषा को भी कलङ्कित करते हैं। अतएव ऐसे लोगों को लेखनी कदापि न उठानी चाहिए। इस समय जो बुरे बुरे उपन्यास बनते जाते हैं उनका बनना बन्द होना चाहिए। जिस भाषा की उन्नति हुई है उसमें पहले उपन्यासों ही की अधिकता हुई है।

औपन्यासिक साहित्य सामान्य मनुष्यों को अधिक मनोरञ्जक होता है। इसीलिए उसकी चाह अधिक रहती है। हमारा यह कदापि मत नहीं कि उपन्यास की शाखा साहित्य से निकाल दी जाय। हम यह कहते हैं कि बेसिर पैर की बातों से भरे हुए जैसे उपन्यास आजकल निकल रहे हैं उनका निकलना बन्द होना चाहिए।

नायिका-भेद और रस तथा अलङ्कार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की भी इस समय आवश्यकता नहीं। हम यह समझते हैं कि 'जसवन्त जसो भूषण' जैसे ग्रन्थों से भाषा को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा। यदि इन ग्रन्थों के बनाने (अथवा बनवाने) और छपाने में जो धनव्यय किया गया वह जीवन चरित, इतिहास अथवा किसी वैज्ञानिक ग्रन्थ के लिए व्यय किया जाता तो भाषा का भी उपकार होता और धन का भी सद्व्यय होता। जैसे अंगरेज़ों ने ग्रीक और लैटिन भाषा की सहायता से अँगरेज़ी की उन्नति की और उन भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद करके अपने साहित्य की शोभा बढ़ाई, वैसे ही हमको भी करना चाहिए। इस समय अंगरेज़ी का साहित्य अत्यन्त उन्नत दशा को प्राप्त है। अतएव हमको चाहिए कि उस भाषा के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी के साहित्य की दशा को सुधारें। इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रा वर्णन, जीवन चरित और समालोचनाओं की हिन्दी में बड़ी भारी न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करना हिन्दी बोलनेवालों का परम धर्म है।

कुछ दिनों से हिन्दी के लेखकों का ध्यान पद्य की भाषा की ओर गया है। अब तक हिन्दी का पद्य ब्रजभाषा ही में था। अब बोलचाल की भाषा में भी कविता होने लगी है। इस विषय की ओर पहले पहल बाबू अयोध्या प्रसाद का ध्यान गया। बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि हम लोग बोलें एक भाषा और कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो और भी उत्तम हो। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता में प्रयुक्त होती आई है। अतएव एकबारगी उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। क्रम क्रम से बोलचाल की भाषा में पद्य का प्रचार होना उचित है। यदि नये प्रकार की कविता से लोगों का भलीभांति मनोरञ्जन हुआ तो काव्य में ब्रजभाषा का प्रचार किसी दिन आप ही उठ जायगा और सम्भव है कि शीघ्र ही किसी दिन ऐसा हो; क्योंकि एक अथवा दो ज़िले की भाषा पर देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं रह सकता।

इस निबन्ध को समाप्त करने के पहले हिन्दी की शाखा उर्दू के साहित्य के विषय में भी हम कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

उर्दू की उत्पत्ति यद्यपि देहली में हुई तथापि उसके साहित्य के जन्मदाता अच्छे अच्छे कवि पहले पहल दक्षिण के गोलकुण्डा और बीजापुर में हुए। अमीर खुसरू के अनन्तर शुजाउद्दीन नूरी ने उर्दू में कविता की। नूरी फ़ैज़ी के मित्र थे। नूरी

गोलकुण्डा के नव्वाब सुलतान अबुल्हसन कुतुबशाह के मन्त्री के पुत्र के शिक्षक थे। नूरी ने अनेक ग़ज़लें कही हैं। १५८१ और १६११ ईस्वी के लगभग गोलकुण्डा के नव्वाब कुली कुतुबशाह और अबदुल्ला कुतुबशाह ने भी उर्दू में कविता की और अनेक गज़लें, रुबाई, मसनवी और कसीदा बनाये। तहसीनुद्दीन ने 'कामरूप और कला' नाम की मसनवी और इबन निशाती ने 'फूलबन' नाम की कहानी इसी समय के लगभग लिखी।

इब्राहीम आदिलशाह ने, बीजापुर में, १५७९ से १६२६ ईस्वी तक राज्य किया। उसने 'नवरस' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम यद्यपि शुद्ध हिन्दी है तथापि यह लिखी उर्दू ही में गयी। इब्राहीम आदिलशाह के अनन्तर अली आदिलशाह के समय में नसरती नामक कवि ने 'गुलशने इश्क' और 'अलीनामा' नाम के दो ग्रन्थ लिखे। यह कवि हिन्दू था। अलीनामा में उसने अली आदिलशाह का चरित लिखा है।

दक्षिण में सबसे प्रसिद्ध उर्दू के दो कवि औरङ्गाबाद में हुए; उनके नाम वली और शीराज हैं। वली का काल १६८० और १७२० के बीच में है। वली को तो लोग "रेख़ता का पिता" (बाबाय रेख़ता) कहते हैं। यह बात सभी मानते हैं कि उत्तरी हिन्दुस्तान में उर्दू कविता की जो उन्नति १८वीं शताब्दी में हुई, उसका मूल कारण वली ही थे। उन्हींकी कविता को आदर्श मानकर और और कवियों ने कविता की।

औरंगज़ेब के राज्य-काल के अन्तिम भाग में वली देहली गये और वहां शाह गुलशन नामक विद्वान् की सलाह से उन्होंने फ़ारसी के कवियों की उक्तियों को उर्दू में लिखना आरम्भ किया।

देहली के उर्दू-कवियों में ज़ाहीरुद्दीन हातिम पहले कवि थे। वे १६९९ में उत्पन्न हुए और १७९२ में मरे। हातिम के अनन्तर नाज़ी, मज़मून और आबरू ने उर्दू में कविता की। हातिम के दो दीवान प्रसिद्ध हैं। वह बहुत अच्छे कवि थे। रफीउस्सौदा, हातिम के शिष्य थे। उर्दू में सौदा का बड़ा नाम है। उनकी कविता सभी को प्रिय है। मीर तक़ी, खान आरज़ू, इनामुल्ला खां और मीरदर्द भी देहली में उर्दू के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। नादिरशाह ने जब देहली को लूट लिया तब आरज़ू लखनऊ चले आये। वहीं उनकी मृत्यु हुई। उर्दू के कवियों में सौदा और मीर तक़ी सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। १८वीं शताब्दी के आरम्भ में सौदा का जन्म देहली में हुआ। उन्होंने हातिम से शिक्षा पायी। देहली के बिगड़ने पर सौदा लखनऊ, चले गये। वहां नव्वाब शुजाउद्दौला ने ६०००) रुपये साल की जागीर उन्हें दी। वे लखनऊ ही में मरे। उनकी मृत्यु १७८० ईस्वी में हुई। उन्होंने कई काव्य लिखे। उर्दू काव्य के जितने प्रकार हैं प्रायः सबमें उन्होंने कविता की है। सौदा की व्याज-स्तुति (मज़म्मत) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मीरतक़ी का जन्म आगरे में हुआ। परन्तु लड़कपन ही में वे देहली चले गये और वहां आरज़ू से कविता सीखी। सौदा की

मृत्यु के समय मीरतक़ी देहली ही में थे। १७८२ ईस्वी में वे लखनऊ गये ; वहां उनको भी एक अच्छी जागीर मिली। मीरतक़ी की मृत्यु १८१० ईस्वी में हुई। मीरतक़ी ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से ६ दीवान हैं। गज़ल और मसनवी में मीरतक़ी सौदा से भी बढ़ गये हैं ; परन्तु क़सीदा और मज़म्मत में सोदा ही का नम्बर पहला है।

सौदा और मीरतक़ी के समान मीर हसन (१७८६), मीर महम्मद सोज़ (१८००) और क़लन्दर-बख्श जुरात (१८१०) भी देहली से लखनऊ चले आये थे। ये भी अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। मीर-हसन-कृत सिहरुल् बयान और गुलज़ारे-इरम नामक दो पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं। जुरात ने दोहे और कवित्त भी लिखे हैं। मिस्कीन नामक कवि के मरसियों की बड़ी प्रशंसा है। नासिख़ की मृत्यु १८४१ और आतिश की १८४७ में हुई। इन दोनों कवियों ने गज़ल लिखने में अच्छा नाम पाया। फ़िसाने अजायब के कर्ता रजबअली बेग और अनीस लखनऊ की नव्वाबी के समय के अन्तिम कवि हुए हैं। वाजिदअलीशाह स्वयं कविता करते थे ; कविता में वे अपना नाम अख्तर देते थे।

देहली के अन्तिम बादशाहों ने भी कविता की है। शाहआलम (१७६१—१८०६) ने मनज़ूमे-अक़दस नाम का एक उपन्यास लिखा है। एक दीवान भी उन्होंने बनाया है। शाहआलम के लड़के सुलेमा शिकोह ने भी एक दीवान की रचना की है। बहादुरशाह (१८६२) ने भी कविता की है ;

उन्होंने शेख़ इबराहीम ज़ौक़ से कविता सीखी थी। देहली के अन्तिम कवियों में मुशफ़्फ़ी का बड़ा नाम है। वे लखनऊ के रहनेवाले थे ; परन्तु १७७७ ईस्वी में वे देहली चले गये थे। वहां एक कवि-समाज स्थापित करके उन्होंने कविता की बहुत कुछ उन्नति की। मुशफ़्फ़ी ने पाँच दीवान, एक उर्दू कवियों का तज़्किरा (जीवनचरित) और एक शाहनामा (शाहआलम तक हुए बादशाहों का चरित) बनाया। कयामुद्दीन और असदुल्ला खां ने भी कई पुस्तकें लिखी हैं।

आगरे के मीर वली-महम्मद (नजीर) भी अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। नज़ीर के जोगीनामा, कौड़ीनामा, चूहानामा, बनजारेनामा कौन नहीं जानता ?

फ़ोर्ट विलियम कालेज़ कलकत्ता, के डाक्टर गिलक्राइस्ट ने जैसे लल्लू जी लाल और सदल मिश्र इत्यादि को शुद्ध हिन्दी में पुस्तकें लिखने के लिए आश्रय दिया था, वैसे ही कई विद्वानों को उर्दू में पुस्तकें लिखने के लिए भी उन्होंने रखा था। उर्दू लिखनेवालों में से सैय्यद महम्मद हैदर बख़्श (हैदरी), मीर बहादुर अली (हुसेनी), मीर अमनलुत्फ, हफ़ीज़ुद्दीन अहमद, शेरअली, क़ाज़िम अली, मज़हर अली और निहालचन्द मुख्य थे। इन लोगों ने उर्दू में अनेक पुस्तकें लिखी हैं ; जिनमें गुलज़ारे-दानिश, तारीखे नादिरी, अख़लाके-हिन्दी, बाग़ो-बहार, चहारदरवेश, इख़वानुस्सफ़ा. और शकुन्तला-नाटक प्रधान हैं।

जिस प्रकार शुद्ध हिन्दी के कवि संस्कृत के छन्दों का प्रयोग

अपनी कविता में करते हैं उसी प्रकार उर्दू के कवि फ़ारसी के छन्दों का प्रयोग करते हैं ; उर्दू की कविता में नूतनता बहुत ही कम है। वही वही बातें बार बार कही जाती हैं। प्रत्येक कवि बहुधा एक ही विषय का पिष्टपेषण करता है और पुरानी उक्तियों को नये ढंग पर कहने का यत्न करके प्रायः विफलमनोरथ होता है। बड़ी बड़ी मसनवियों में भी कथाप्रसङ्ग का विचार कम, परन्तु कहने की प्रणाली और अलङ्कारों की योजना का विचार अधिक रहता है। संस्कृत के समान फ़ारसी भाषा का साहित्य विस्तृत नहीं। अतएव फ़ारसी-कवियों की प्रणाली और उनकी विचार-परम्परा, जिसका अनुसरण उर्दू कवि करते हैं, कहां तक नूतनता रख सकती है ?

गत मनुष्यगणना से यह सिद्ध है कि देवनागरी अक्षरों के जाननेवाले इन प्रान्तों में फ़ारसी अक्षरों के जाननेवालों से कई गुने अधिक हैं। उर्दू चाहे जितनी सरल हो, उसमें कुछ न कुछ फ़ारसी-शब्दों का मेल होता ही है। इन प्रान्तों के ग्रामीण और साधारण मनुष्य संस्कृत के कम कठिन शब्द चाहे समझ भी लें, परन्तु फ़ारसी के वे नहीं समझ सकते। क्योंकि फ़ारसी विदेशी भाषा है ; संस्कृत, फिर भी, इसी देश की भाषा है। फ़िर उर्दू लिखने में जिन अक्षरों का प्रयोग किया जाता है वे अपूर्ण और भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। उनकी लिखावट ठीक ठीक पढ़ी नहीं जाती। इन कारणों से उर्दू की अपेक्षा शुद्ध हिन्दी ही का प्रचार होना प्रजा के लिए लाभकारी है।

पिछली मनुष्यगणना की रिपोर्ट के लेखक कहते हैं कि नागरीप्रचारिणी सभा संस्कृत-शब्दों को अधिक काम में लाना ही भाषा को शुद्ध करना समझती है। यह उनकी भूल है। जहां तक हम जानते हैं, सभा कदापि यह नहीं करना चाहती; और न कभी उसने ऐसा करने का यत्न ही किया। सभा ने उलटा, व्यर्थ संस्कृत शब्द लिखने के प्रतिकूल, अपना अभिप्राय प्रकट किया है। साहब के लिखने से जान पड़ता है कि आप 'हुक्म' और 'क़ायदा' इत्यादि शब्दों के समान फ़ारसी के शब्दों से भरी हुई भाषा ही के पक्षपाती हैं। आपने अपनी रिपोर्ट में हिन्दी का एक वाक्य लिखा है। वह वाक्य यह है—

"परन्तु उसमें एक कठिनाई पड़ती थी। मनुष्यमात्र की गणना की अपेक्षा थोड़ी ही गउओं को यह रोग था; इस कारण इस चेप का बहुधा अभाव बना रहता था।"

यह बहुत ही बुरा वाक्य, उदाहरण के लिए चुना गया है। बुरी हिन्दी का यह एक अच्छा नमूना है। ऐसा न करना चाहिए था। साहब कहते हैं कि इस वाक्य के जो जो शब्द मोटे अक्षरों में दिये गये हैं; उनमें से केवल दो शब्द उनके दफ्तर के हिन्दू-कर्मचारियों की समझ में आये। ये कर्म्मचारी, साहब के कहने के अनुसार, हिन्दी जानते थे। परन्तु हमारा अनुमान है कि वे बिलकुल हिन्दी नहीं जानते थे, नागरी अक्षर पढ़ चाहे भले ही सकते हों। वे अवश्य उर्दू के भक्त होंगे। इस वाक्य में 'अभाव' और 'मनुष्यमात्र' ये दो शब्द कुछ कठिन हैं, परन्तु जिसने थोड़ी भी हिन्दी पढ़ी है और तुलसी

दासकृत रामायण भी पढ़ता और समझता है, उसे इस वाक्य का अर्थ समझने में कुछ भी कठिनता न पड़ेगी। साहब के कर्म्मचारियों के अनुसार 'परन्तु' और 'कठिनाई' भी कठिन शब्द हैं। उनके स्थान में यदि 'मगर' और 'मुश्किल' का प्रयोग होता, तो शायद वे झट उन्हें समझ जाते। इसी से अनुमान होता है कि वे करमचारी हिन्दी के नहीं किन्तु उर्दू के जाननेवाले हैं।

साहब उच्च हिन्दी के प्रतिकूल हैं। हमारा भी यही मत है और नागरी-प्रचारिणी सभा का भी। हां, परन्तु साथ ही उसके हिन्दी में फ़ारसी शब्दों के प्रयोग किये जाने की हम कोई आवश्यकता नहीं देखते। राजा शिवप्रसाद की हिन्दी शायद साहब को पसन्द हो; परन्तु उसमें फ़ारसी शब्दों का मेल है। फ़ारसी शब्दों के मेल के विना भी सरल हिन्दी लिखी जा सकती है और ऐसी हिन्दी में यदि कहीं कहीं संस्कृत के 'कठिन', 'सकल', 'कष्ट', इत्यादि सीधे सादे शब्द आजायं तो हम कोई हानि नहीं समझते। बँगला और मराठी-भाषा में हज़ारों शब्द संस्कृत के होने पर भी जब बङ्गाली और मराठे उन्हें समझते हैं तब वैसे शब्द हिन्दी में होने से इस प्रान्तवाले उन्हें क्यों न समझ सकेंगे? इसका कोई कारण नहीं देख पड़ता। प॰ लिखे मुसल्मानों को छोड़कर सारी प्रजा उर्दू की अपेक्षा शुद्ध हिन्दी को अधिक चाहती है। इसलिए हिन्दी को उर्दू का अनुकरण न करके स्वयं अपनी ही लिखावट को अधिक सरल करना चाहिए।

पूर्वोक्त रिपोर्ट के लिखनेवाले सुपरिंटेंडेन्ट साहब आधुनिक हिन्दी को बोलचाल की भाषा नहीं बतलाते। वे उसे उच्च हिन्दी कहते हैं। उनका मत है कि जैसी हिन्दी लिखी जाती है वैसी बोली नहीं जाती। साहब स्वयं हिन्दी नहीं जानते इसमें कोई संशय नहीं। यदि वे जानते तो पूर्वोक्त वाक्य अपने कर्म्मचारियों से न पढ़ाते। इस दशा में, उनको हिन्दी के विषय में ठीक ठीक ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। यह सत्य है कि कोई कोई लेखक अपने लेखों में संस्कृत-शब्द बहुत प्रयोग करके भाषा को क्लिष्ट कर देते हैं, परन्तु सरल लिखनेवाले भी हैं। फिर एक बात यह भी है कि बोलचाल की भाषा से लिखित भाषा में कुछ अन्तर अवश्य होता है। क्या सुपरिंटेंडेंट साहब कह सकेंगे कि जिस भाषा में उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिखी है उसी प्रकार की भाषा में वे अपनी मेम साहबा अथवा अपने लड़के-लड़कियों से बातचीत करते हैं ? अथवा मेकाले, बेकन, लिटन, स्काट, ऐडिसन, बर्क इत्यादि सबकाल, सब कहीं, वैसी ही भाषा बोलते थे जैसी भाषा उन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखी है ? हमारा मत तो इसके प्रतिकूल है। लिखते समय लेख को अधिक मनोरञ्जक करने के लिए लेखक अच्छे अच्छे शब्द रखता है ; परन्तु बोलने के समय इस बात का उतना विचार नहीं किया जाता। फिर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो उच्च भाषा ही में बातचीत करते हैं और उच्च भाषा ही में अपने मन में विचार-संग्रह करके उनको वैसे ही लिखते हैं। अतएव ऐसे विद्वानों के ऊपर जानबूझ कर उच्च और अस्वाभाविक

भाषा लिखने का दोष नहीं लगाया जा सकता। तथापि, जहां तक हो सके, विषय पर ध्यान रख कर, यथासम्भव, सरल ही भाषा लिखना उचित है।

इन प्रान्तों में शुद्ध हिन्दी जाननेवाले अधिक हैं। जब से गवर्नमेंट ने नागरी अक्षरों का प्रचार कचहरियों में किया तब से सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर अधिक खिँचा है। आशा है बहुत ही शीघ्र इसका अच्छा फल देखने में आवे। परन्तु इस भाषा में अच्छे अच्छे ग्रन्थों का अभाव है। बँगला, मराठी, गुजराती और तैलंगी आदि भाषाओं में, हम देखते हैं, एम० ए० और बी० ए० पास लोग लिखते हैं और ऐसा करना अपना गौरव समझते हैं; परन्तु इन प्रान्तों के विद्वान् कान में तेल डाले हुए बैठे हैं। यनसाइक्लो-पीडिया ब्रिटानिका नामक अँगरेज़ी की पुस्तक को खोलने से देख पड़ता है कि जो लोग यहां लफ़टिनेंट गवर्नर, गवर्नर और गवर्नर-जनरल तक रह चुके हैं उन्होंने भी उस पुस्तक में लेख दिये हैं। अपनी भाषा में लेख अथवा पुस्तकें लिखने से किसीकी प्रतिष्ठा कम नहीं हो जाती; उलटा बढ़ती है। परन्तु हमारे प्रान्तवासी, अपनी लेखनी को घूंघुट की ओट में छिपाये हुए हैं; उसे बाहर निकलने ही नहीं देते। यह लज्जा का विषय है; अथवा अपनी भाषा के दुर्भाग्य का विषय है। जिन विद्वानों को लिखने का सामर्थ्य भी है वे भी लेखनी नहीं उठाते। पण्डित मदनमोहन मालवीय ने कुछ काल तक हिन्दी की सम्पादकता भी की है और हिन्दी-सम्बन्धी पुस्तकें भी अंगरेज़ी में लिखी

हैं। आप अनेक देशहितकारी कामों में भी सदा लगे रहते हैं। दूसरोंको लिखने पढ़ने के विषय में उपदेश भी देते हैं। हिन्दी-प्रचार के लिए आपने जो उद्योग किया है वह किसी से छिपा भी नहीं है। तथापि, खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्वयं एक पंक्ति तक अब आप, हिन्दी में, नहीं लिखते। हम जानते हैं, आपको सैकड़ों काम रहते हैं, परन्तु यदि वर्ष में आप एक भी लेख लिखें तो औरों के लिए वे उदाहरण हो जायं; उनको देख कर दूसरे विद्वानों को भी लिखने का उत्साह हो। यदि वे स्वयं नहीं लिख सकते तो अपने परिचित, अपने मित्र, अथवा अपने पड़ोसी विद्वानों ही को उत्तेजित करके उनसे कभी कभी लिखवावें; क्योंकि हिन्दी के ज्ञाता समर्थ हो कर भी यदि उसमें कुछ लिखने का यत्न न करेंगे तो उसकी उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। मालवीयजी के लिए जो कुछ हमने लिखा वह कटाक्ष नहीं; वह उलाहना है; उलाहना भी नहीं, किन्तु प्रेमपूर्वक विनय है। उन्हींसे नहीं; किन्तु हिन्दी लिखने की जिनमें शक्ति है ऐसे अंगरेजी में प्रवीण सभी विद्वानों से हमारी यह प्रार्थना है कि जब तक वे अपनी लेखनी का घूंघुट न खोलेंगे, जब तक वे अँगरेज़ी के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद न करेंगे; जब तक वे उत्तमोत्तम लेख न लिखेंगे, तब तक हमारी मातृ-भाषा हिन्दी का दरिद्र दूर न होगा।

[फरवरी-मार्च १९०३

७—हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था।

[इलाहाबादवाले दूसरे साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखित]

१—बीज-वपन

हिन्दी का बीज-वपन हुए बहुत काल हुआ। परन्तु, निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि किस सन्, किस संवत् या किस समय में वर्त्तमान हिन्दी की आद्यावस्था का आरम्भ हुआ। इस अनिश्चय का कारण यह है कि भाषाओं का उत्पत्ति एक दिन में नहीं होती। अनेक प्राकृतिक कारणों से देश, काल और समाज की अवस्था-विशेष के अनुसार, उनमें परिवर्त्तन हुआ करते हैं। नई भाषायें उत्पन्न हो जाती हैं और पुरानी भाषाओं का प्रचार कम हो जाता है। कभी कभी पुरानी भाषायें धीरे धीरे विलय को भी प्राप्त हो जाती हैं। चन्द बरदाई ने जिस हिन्दी में पृथ्वीराज-रासौ लिखा है उसके पहले भी हिन्दी विद्यमान थी। उस पुरानी हिन्दी के पूर्व्ववर्त्ती रूप भी प्राकृत भाषाओं में पाये जाते हैं और उनके भी प्राक्कालीन रूप भारत के प्राचीनतम ग्रन्थों में मिलते हैं। अतएव इस परिवर्त्तन-परम्परा की प्रत्येक अवस्था का ठीक ठीक पता लगाना सहज काम नहीं। हमारी हिन्दी-भाषा विकास-सिद्धान्त का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उसका क्रम-विकाश हुआ है। धीरे धीरे वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था

को प्राप्त हुई है। वह एक प्रकार से अनादि है। नहीं कह सकते कब से मानव-जाति उसके सबसे पहले रूपवाली उसकी पूर्ववर्त्तिनी भाषा बोलने लगी। वर्त्तमान हिन्दी की प्रथमावस्था का सबसे प्रतिष्ठित ग्रन्थ जो अब तक उपलब्ध हुआ है पृथ्वीराज-रासो ही है। अतएव निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वर्त्तमान हिन्दी का बीज-वपन चन्द बरदाई के समय में, या उसके कुछ पहले, हुआ। चन्द के पूर्व-वर्त्ती भी कुछ कवियों और उनके काव्यों का पता चलता है। पर, चन्द के और उनके स्थितिकाल में बहुत अधिक अन्तर नहीं।

२—अंकुरोद्भव

बोने के अनन्तर बीज से अंकुर निकलता है। चन्द बरदाई आदि कवियों ने जिस बीज को बोया उससे अंकुर तो शीघ्र निकल आया, परन्तु पत्तियां बहुत देर में निकलीं। जिस हिन्दी में आज कल समाचारपत्र और पुस्तकें लिखी जाती हैं उसके उद्भव तक हिन्दी में प्रायः काव्य-ग्रन्थों ही की उत्पत्ति हुई। संख्यातीत ग्रन्थ बने; पर बहुत करके सब पद्यात्मक। भक्त कवियों ने अपने अपने उपास्य देवता पर कविता की। राजाश्रित कवियों ने अपने अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल शृंगार या वीररसात्मक काव्य निर्माण किये। किसी ने अलंकारशास्त्र पर लिखा, किसीने नायिका भेद पर। सब की प्रवृत्ति केवल कविता ही की ओर रही। सात आठ सौ वर्ष तक यही हाल रहा। हिन्दी का अंकुर निकला तो सही;

पर वह अंकुर ही रहा। वह पुष्ट ज़रूर होता गया; पर उसे अपनी अगली अवस्था की प्राप्ति बहुत काल के अनन्तर हुई।

३—पत्रोद्‌गम

अङ्गरेज़ी शासन की कृपा से जब शिक्षा का प्रचार बढ़ा और अन्य भाषाओं में अच्छे अच्छे समाचारपत्र और पुस्तकें निकलने लगीं तब हिन्दी के दो चार हितचिन्तकों का ध्यान अपनी मातृभाषा की हीनता की ओर गया। अतएव उन्होंने उसे उन्नत करने के इरादे से प्रचलित प्रणाली की हिन्दी में काव्य, नाटक और इतिहास आदि की पुस्तकें गद्य में लिखनी और समाचारपत्र तथा सामयिक पुस्तकें निकालनी आरम्भ कीं। उस समय मानो हिन्दी के अंकुरित पौधे में, चिरकालोत्तर पत्रोद्‌गम हुआ। जो अंकुर सैकड़ों वर्ष तक प्रायः एक ही रूप में था उसमें पत्तियां निकल आईं। उसके भी पहले यद्यपि कलकत्ते के फोर्ट-विलियम में हिन्दी की पूर्वागत अवस्था परिवर्तित करने की चेष्टा हुई थी, तथापि वह विशेष फलवती नहीं हुई। नये ढंग की दो एक पुस्तकें निकलने ही से हिन्दी का अवस्था-परिवर्तन नहीं हो सकता।

४—वर्त्तमान अवस्था

हिन्दी के जिस नये पौधे में आज से तीस पैंतीस वर्ष पहले केवल दो चार कोमल कोमल पत्ते दिखाई दिये थे वे अब, इस समय, अनेक पल्लव-पुञ्जों से आच्छादित हैं। यद्यपि उसमें अब तक शाखा-प्रशाखाओं का प्रायः अभाव है; यद्यपि उसका तना अभी बहुत पतला और कमज़ोर है; यद्यपि उसमें

फूल और फल लगने में अभी बहुत देरी है—तथापि वह बढ़ रहा है और आशा है कि किसी समय उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की पूर्त्ति और पुष्टि भी देखने को मिलेगी। हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था को देख कर यही अनुमान होता है।

५—साहित्य का महत्व

ज्ञान के कई विभाग किये जा सकते हैं। विश्व में जो कुछ जानने योग्य है वह कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। ऐसे प्रत्येक भाग की संज्ञा शास्त्र है।

आकाशस्थ ज्योतिर्मय पिण्डों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र का नाम ज्योतिषशास्त्र है। बिजली से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का नाम विद्युच्छास्त्र है। मानव-शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र को शारीरिक शास्त्र कहते हैं। तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी शास्त्र दर्शनशास्त्र कहलाता है। इसी तरह आयुर्वेद-शास्त्र, जीवाणु-शास्त्र, कृषि-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, ज्यामितिशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, रसायन-शास्त्र, अङ्कशास्त्र, शिल्पशास्त्र, संगीतशास्त्र, सम्पत्तिशास्त्र—यहां तक कि कीट-पतंग आदि से सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र भी है। सारांश यह कि इस विशाल विश्व में जो कुछ है वह सब अपने अपने वर्ग या विभाग के अनुसार पृथक् पृथक् शास्त्र-सम्बन्धिनी सामग्री प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्य की बुद्धि का जैसे जैसे विकाश होता जाता है वैसे ही वैसे ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान भी उसे क्रम क्रम से अधिकाधिक होता जाता है। ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ शास्त्रों की संख्या भी बढ़ती जाती

है। जिस विषय का ज्ञान जितना ही अधिक होता है उस विषय का शास्त्र भी उतना ही अधिक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण होता है। भिन्न भिन्न प्रकार का यह शास्त्रीय ज्ञान पुस्तकों में सँगृहीत रहता है। उनके प्रकाशन और प्रचार से सारे देश का भी कल्याण होता है और जुदा जुदा समाज का भी। एक मनुष्य के ज्ञानार्जन या ज्ञानानुभव से अनेक मनुष्यों को तभी लाभ पहुंचता है जब पुस्तकों के द्वारा उसका प्रचार होता है। इस ज्ञान-समुदाय को संगृहीत करने और फैलानेवाली पुस्तकों के समूह का नाम साहित्य है। जिस भाषा में ज्ञान-वर्द्धक शास्त्रों और पुस्तकों की जितनी ही अधिकता होती है उस भाषा का साहित्य-भाण्डार उतना ही अधिक सम्पन्न होता है।

ज्ञानार्जन का प्रधान साधन शिक्षा है। बिना शिक्षा के मनोविकाश नहीं होता और बिना मनोविकाश के ज्ञानोन्नति नहीं होती। अतएव ज्ञानवृद्धि के लिए शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। समाचारपत्रों और सामयिक पुस्तकों से भी शिक्षा मिलती है। उनसे भी ज्ञानोन्नति होती है। इससे उन्हें भी भाषा-साहित्य का एक अंग नहीं, तो एक अंश अवश्य समझना चाहिए। इन्हीं कारणों से मनोरञ्जन, समालोचन, इतिहास और जीवन-चरित आदि से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें भी साहित्य के अन्तर्गत हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर अब यह देखना है कि हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य की अवस्था कैसी है। हिन्दी के दूसरे साहित्य-सम्मेलन

के अधिकारियों ने मुझे इसी विषय पर एक निबन्ध लिखने की आज्ञा दी है।

६—समाचारपत्र

समाचारपत्रों और निर्दिष्ट समय में प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की संख्या से प्रत्येक देश की शिक्षा और सभ्यता की इयत्ता जानी जा सकती है। जो देश जितना ही अधिक सभ्य और सुशिक्षित होता है उसमें उतने ही अधिक पत्र और पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। शिक्षित जनों की संख्या पर ही इस प्रकार के साहित्य की अधिकता या न्यूनता अवलम्बित रहती है। हिन्दी में निकलनेवाली पुस्तकों और समाचारपत्रों की संख्या पर विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पच्चीस तीस वर्ष पहले जिस अवस्था में हिन्दी थी उससे अब वह अधिक उन्नत अवस्था में है।

पत्रों और पुस्तकों की संख्या अब बहुत बढ़ गई है; विवेचनीय विषयों का विस्तार भी अधिक हो गया है; भाषा भी पहले की अपेक्षा अधिक परिमार्ज्जित और विशुद्ध हो गई है। कई एक साप्ताहिक पत्र और मासिक पुस्तकें योग्यतापूर्वक सम्पादित होती हैं। नये नये पत्र निकलते जाते हैं। सामयिक पुस्तकों की भी संख्या दिनों दिन वृद्धि पर है। बहुत पुराने पत्रों में विशेष करके कविता, नाटक, हँसी-दिल्लगी की बातें और बहुत ही साधारण लेख और समाचार रहते थे। सामयिक पुस्तकों की भी निकृष्ट अवस्था थी। वह बात अब नहीं रही। अब बहुत कुछ उन्नति हुई है। सम्पादक-समुदाय अपने

कर्त्तव्य को अब पहले की अपेक्षा अधिक समझने लगा है। सुरुचि का भी अधिक ख़याल रक्खा जाता है, लोकशिक्षण का भी, और जन समुदाय के हित तथा मत-बाहुल्य का भी।

परन्तु, जब हम अँगरेज़ी और एतद्देशीय अन्य समुन्नत भाषाओं के इस साहित्य की ओर देखते हैं तब हमें अपनी भाषा की हीनावस्था को देख कर दुःख और आश्चर्य होता है। दुःख का कारण तो स्पष्ट ही है। आश्चर्य का कारण यह है कि हिन्दी बोलनेवालों की संख्या इतनी अधिक होने पर भी हमारी मातृभाषा की इतनी अनुन्नत अवस्था! इस दुरवस्था के कई कारणों में से तीन मुख्य हैं। पहला कारण लोकशिक्षा की कमी; दूसरा कारण मातृभाषा से शिक्षित जनों की अरुचि; तीसरा कारण पत्रसम्पादकों और सञ्चालकों की न्यूनाधिक अयोग्यता है।

जितने समाचारपत्र इस समय हिन्दी में निकलते हैं उनमें से प्रायः सभीके सम्पादकीय लेखों और समाचारों के लिए, अनेक अंशों में, पायनियर, बङ्गाली, अमृत बाज़ार पत्रिका और ऐडवोकेट आफ़ इंडिया आदि अँगरेज़ी पत्र उत्तमर्ण का काम देते हैं। मासिक पुस्तकों का भी यही हाल है। वे भी प्रायः औरों के दिमाग़ से निकले हुए लेखों की छाया और अनुवाद ही से अपना कलेवर पूर्ण करती हैं। प्रत्येक भाषा की आदिम अवस्था में बहुत करके यही हाल होता है। अपने से अधिक उन्नत भाषाओं की सहायता ही से वे अपनी अंग-पुष्टि करती हैं।

इस अवस्था में धीरे धीरे परिवर्त्तन होता है। जैसे जैसे अधिक शिक्षित जन समाचार-पत्रों के सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त होते हैं वैसे ही वैसे परावलम्बन की प्रवृत्ति कम हो जाती है, स्वाधीन विचारों की सृष्टि होती है और सामयिक बातों की स्वतन्त्रतापूर्वक समालोचना होने लगती है। शिक्षा की कमी ही के कारण स्वावलम्ब-समर्थ योग्य सम्पादक कम मिलते हैं। अतएव समाचारपत्रों से होनेवाले लाभों को जो लोग समझते भी हैं वे भी हिन्दी के पत्रों का बहुधा इसलिए आदर नहीं करते कि वे सुचारुरूप से सम्पादित नहीं होते। आशा है, यह त्रुटि धीरे धीरे दूर हो जायगी।

कुछ लोग अँगरेज़ी भाषा और उसके जाननेवालों से द्वेष करते हैं। उन्हें उनकी प्रत्येक बात से अँगरेज़ी बू आती है। उनको जानना चाहिए कि हिन्दी में समाचारपत्रों का निकालना हमने अँगरेज़ी जाननेवालों ही की बदौलत सीखा है। वह अँगरेज़ी शासन ही का प्रसाद है। अँगरेज़ी में इस प्रकार के साहित्य ने जितनी उन्नति की है उतनी उन्नति करने के लिए हमें सैकड़ों वर्ष चाहिए। अँगरेज़ी के समाचार-पत्र-साहित्य को, अनेक बातों में, आदर्श माने बिना हिन्दी के साहित्य को हम कभी यथेष्ट उन्नत न कर सकेंगे। मेरी जड़ बुद्धि में तो सम्पादकों के लिए अच्छी अँगरेज़ी जानना आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य है। मैं तो यहां तक कहने का साहस कर सकता हूं कि हमारे साहित्य की इस शाखा की जो इतनी हीन दशा है उसका एक कारण यह भी है कि

हम, हिन्दी-लेखक, बहुधा अँगरेज़ी नहीं जानते और जानते भी हैं तो बहुत कम।

७—वैज्ञानिक पुस्तकें

'विज्ञान'-शब्द आजकल 'शास्त्र'-शब्द का पर्यायवाची हो रहा है। शास्त्र किसे कहते हैं, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ज्ञान और विज्ञान कोई ऐसी वैसी चीज़ नहीं। उसकी महिमा सीमारहित है। संसार में सबसे अधिक महत्व की ज्ञेय वस्तु परमेश्वर है। वह भी ज्ञानगम्य है। ज्ञान की बदौलत ही उसका ज्ञान हो सकता है। ऐसे विज्ञानात्मा ऐसे "निरतिशय-सर्वज्ञ-बीज, जगदीश्वर को जिसके प्रसाद से मनुष्य पहचान सकता है उसका माहात्म्य सर्वथा अकथनीय है। परन्तु, हाय! इस ज्ञानगर्भ साहित्य का हिन्दी में सर्वतोभाव से अभाव है। यह बड़े दुःख, बड़े खेद, बड़े परिताप की बात है। ज्ञान की जो अनेक शाखायें हैं—शास्त्रीय विषयों के जो अनेक भेद हैं—उनमें से एक पर भी दो चार अच्छे अच्छे ग्रंथ हिन्दी में नहीं। एक जीव-विज्ञान-विटप, या एक पदार्थ-विज्ञान-बिटप, या एक छोटा सा रसायन-शास्त्र या और भी ऐसा ही एक आध ग्रन्थ हुआ तो क्या और न हुआ तो क्या। उससे किसी ज्ञानांश के अभाव की पूर्त्ति नहीं हो सकती। अन्य समुन्नत भाषाओं में जिस ज्ञान या विज्ञान की एक एक शाखा पर सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं उसकी किसी शाखा-विशेष से सम्बन्ध रखनेवाली दो चार या दस पांच छोटी

मोटी पुस्तकें हिन्दी में हुईं भी तो वे न होने के बराबर हैं। जिस ज्ञान ही की बदौलत अन्य प्राणियों में मनुष्य को श्रेष्ठता मिली है उसी ज्ञानात्मक साहित्य का हिन्दी बोलनेवाले मनुष्य नामक प्राणियों की भाषा में प्रायः पूर्णाभाव होना बड़ी ही लज्जा की बात है। गीता, सिद्धान्तशिरोमणि, सांख्य, योग और मीमांसा आदि सूत्रों के टूटे फूटे हिन्दी अनुवाद से इस अभाव का तिरोभाव नहीं हो सकता। इसका तिरोभाव तभी होगा जब संस्कृत और अँगरेज़ी, दोनों भाषाओं के ज्ञानार्णव का मन्थन करके सब प्रकार के ज्ञानांश-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होगी।

८—कोष और व्याकरण

बहुत दिनों से यह निर्घोष सुनाई दे रहा है कि हिन्दी में न तो एक अच्छा सा कोश है और न एक व्याकरण। अतएव इन दोनोंकी बड़ी आवश्यकता है। इनकी आवश्यकता है अवश्य, परन्तु बड़ी आवश्यकता नहीं। इनसे साहित्य के एक अंग की पूर्त्ति अवश्य हो सकती है; पर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि अन्यान्य परमावश्यकीय अंगों की पूर्त्ति की अपेक्षा इस अंग की पूर्त्ति के विषय में क्यों इतना ज़ोर दिया जाता है। क्या बिना इसके हिन्दी साहित्य की थोड़ी भी पुष्टि असम्भव है? तुलसीदास, सूरदास, बिहारीलाल, पण्डित वंशीधर बाजपेयी, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, पण्डित प्रतापनारायण आदि ने किस कोष और किस व्याकरण को सामने रख कर ग्रन्थ-रचना की है?

हिन्दी के सौभाग्य से उसमें एक अच्छा वैज्ञानिक कोष वर्तमान है। उसे बने कई वर्ष हुए। उसकी सहायता से आज तक कितने वैज्ञानिक ग्रन्थों की सृष्टि हिन्दी में हुई है ? बँगला और मराठी में वैसा कोई कोष नहीं। तथापि इन भाषाओं की पुस्तकें बेचनेवाले किसी भी प्रतिष्ठित दूकान-दार या प्रकाशक के यहां प्राप्य पुस्तकों की सूची यदि आप देखेंगे तो आपको अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों के नाम मिलेंगे। इससे सिद्ध है कि यह काम आरम्भ में बिना कोष की सहायता के भी हो सकता है। हिन्दी-साहित्य अभी अत्यन्त हीनावस्था में है। उसकी एक भी शाखा अभी तक नाम लेने योत्य समृद्ध नहीं और, किसी भी वृहत्कोषमें साहित्य की सब शाखाओं के शब्द होने चाहिए। अतएव जब सब प्रकार के शब्दों की सृष्टि ही नहीं हुई तब बहुत बड़ा और पूर्ण कोष कैसे बन सकेगा ? अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों के उदाहरण कहां से आवेंगे ? इस दशा में यदि कोई कोष बनेगा भी तो उसमें संख्यातीत शब्दों की कमी रह जायगी। जब उन शब्दों की सृष्टि होगी तब या तो एक नया ही कोष बनाना पड़ेगा या पुराने कोष का सर्वा-ङ्गीण संशोधन करना पड़ेगा।

यही हाल व्याकरण का भी है। बिना एक बहुत बड़े व्याकरण के भी हिन्दी के साहित्य की वृद्धि में, अभी इस समय, विशेष बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य ऐसा है जो न तो हिन्दी का अच्छा

व्याकरण ही जानता है और न उसके पास हिन्दी का कोई अच्छा सा कोष ही है। परन्तु हिन्दी उसकी मातृभाषा है। वह अपने घर में अपने कुटुम्बियों से हिन्दी में बातचीत करता है। उसे यह लिखना है कि—"प्रातःकाल सूर्योदय सदा पूर्व में होता है।" कोष और व्याकरण से अच्छा परिचय न होने के कारण, सम्भव है, वह इस वाक्य को इस तरह लिखे:—

(१) सूरज हमेशा पूरब में निकलता है—या
(२) सूर्य सदा पूर्व में उदय होता है—या
(३) सूरज का उदय हमेशा पूर्व की तरफ़ होता है—या
(४) सूर्य रोज़ पूर्व से उदय होता है—या

इस भाव को वह किसी और ही तरह प्रकट करे। परन्तु वह चाहे जैसे शब्द प्रयोग करे और व्याकरण की दृष्टि से उसका वाक्य चाहे जितना अशुद्ध हो उसके कहने का मतलब सुननेवाला अवश्य समझ लेगा। यह तो सम्भव ही नहीं कि वह इस वाक्य को इस तरह लिखे:—

में है होता सूरज पूरब उदय हमेशा।

फिर कैसे कोई कह सकता है कि बिना उत्तम कोष और व्याकरण के हिन्दी का काम इस समय नहीं चल सकता? लिखने का एक मात्र प्रयोजन यही है कि लेख का भाव पढ़ने-वाले की समझ में आ गया तो लिखने का प्रयोजन सिद्ध हो गया। अतएव व्याकरण और कोष अच्छी तरह न जानने पर भी मन का भाव औरों पर प्रकट किया जा सकता है। हिन्दी के वैय्याकरणों की राय है कि में व्याकरण

नहीं जानता। यदि जानता तो रामायण, महाभारत, लोटा, सोंटा आदि शब्दों के लिङ्ग प्रयोग में मुझसे भूलें न होतीं और जो कुछ मैं लिखता शुद्धतापूर्वक लिखता। हिन्दी के व्याकरण से इतना अनभिज्ञ होने पर भी मेरे इस लिखने या कहने का मतलब, सच कहिए, आपकी समझ में आता है या नहीं। यदि आता है तो आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि व्याकरण और कोश में उत्तमतापूर्वक पारङ्गत हुए बिना भी समझने लायक हिन्दी लिखी जा सकती है।

हिन्दी के व्याकरण और कोश से विशेष लाभ वही उठा सकते हैं जिनकी जन्मभाषा हिन्दी नहीं। सरकारी कचहरियों और दफ्तरों के अफ़सरों और अधिकांश कर्मचारियों का भी हिन्दी के बृहत्कोश से बड़ा काम निकल सकता है। हिन्दी लिखनेवालों का काम तो, इस समय, उन्हीं कई एक छोटे मोटे व्याकरणों और कोशों से निकल सकता है जो हिन्दी में वर्त्तमान हैं। जो हिन्दी लिखना या पढ़ना बिलकुल ही नहीं जानते उनकी बात जुदी है। उनका काम बिना कोश और व्याकरण के चाहे न भी चल सके; पर जो साधारण हिन्दी जानते हैं उनका काम अवश्य चल सकता है। विशुद्ध, सरस और अलङ्कारिक भाषा लिखने के लिए कोश और व्याकरण का अच्छा ज्ञान अवश्य अपेक्षणीय है। परन्तु ऐसी भाषा लिखने का यही एक साधन नहीं। उसके लिए अभ्यास और पुस्तकावलोकन की भी आवश्यकता है; कोश और व्याकरण रट कर कोई अच्छा लेखक नहीं हो सकता।

मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी में सर्वाङ्ग-पूर्ण व्याकरण और कोश न बनें! अवश्य बनें। उनके बनने से हिन्दी-साहित्य के एक अङ्ग की पुष्टि अवश्य होगी और हिन्दी लिखने और सीखनेवालों को लाभ भी होगा। मेरे कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि बिना एक बृहत्कोश और बृहद्-व्याकरण के भी वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के अन्यान्य आवश्यकीय अङ्गों की साधारण उन्नति हो सकती है।

९—इतिहास और जीवनचरित

हिन्दी-साहित्य के किस किस अङ्ग की कमी पर खेद प्रकट किया जाय! एक भी अङ्ग तो परिपुष्ट नहीं। साहित्य में इतिहास का आसन बहुत ऊंचा है। हिन्दी में ऐतिहासिक पुस्तकों का यद्यपि सर्वथा अभाव नहीं, तथापि नाम लेने योग्य दस पांच भी ऐसी पुस्तकें हिन्दी में नहीं। मिस्टर आर० सी० दत्त ने भारतीय सभ्यता का जो इतिहास अङ्गरेज़ी में लिखा है उसका अनुवाद, टाड साहिब के राजस्थान का अनुवाद, और देहली के मुसल्मान बादशाहों के राजत्व काल से सम्बन्ध रखनेवाले दो एक फ़ारसी-ग्रन्थों के भी अनुवाद उल्लेख-योग्य हैं। पृथ्वीराजरासो पुरानी हिन्दी में है और पद्यात्मक है। वह यदि इतिहास कहा जा सकता हो तो उसकी भी गिनती साहित्य की इस शाखा के अन्तर्गत हो सकती है। हां, सोलङ्कियों का इतिहास अवश्य नाम लेने योग्य है। वह बड़ी खोज और श्रम से लिखा गया है। इनके सिवा और भी कुछ ऐतिहासिक पुस्तकें हिन्दी में हैं। परन्तु हिन्दी

बोलनेवालों की संख्या और हिन्दी-भाषा की व्यापकता का विचार करने से दो चार या दस पांच ऐतिहासिक पुस्तकों का होना बड़ी बात नहीं। जिस उर्दू के बोलनेवालों और पक्षपातियों की संख्या हिन्दी बोलनेवालों के मुकाबले में बहुत ही कम है उसमें दस दस पन्द्रह पन्द्रह जिल्दों वाले भारतीय इतिहास बन जायं और हिन्दी में हज़ार पांच सौ पृष्ठों का भी एक अच्छा इतिहास न बने यह हम लोगों के लिए बड़ी ही लज्जा की बात है।

जीवनचरित भी साहित्य की एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण शाखा है। इस शाखा के ग्रन्थ छोटे बड़े, स्त्री-पुरुष, सबकी समझ में आ सकते हैं। सबको उनसे लाभ भी पहुंचता है और साथ ही मनोरञ्जन भी होता है। न ऐसे ग्रन्थों का आशय समझने के लिए विशेष चिन्तन की आवश्यकता होती है और न विशेष विद्वत्ता की। ऐसे सुखपाठ्य, मनोरञ्जक और सर्व-जनोपयोगी साहित्यांश की कुछ ही पुस्तकें हिन्दी में हैं। उनको भी बने अभी कुछ ही समय हुआ और वे भी अच्छी तरह खोज और विचार पूर्वक नहीं लिखी गईं। बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के जैसे चरित हैं वैसा एक भी जीवनचरित हिन्दी में नहीं। अंगरेज़ी में बासवेल-कृत डाक्टर जान्सन का और लार्डमार्ले-कृत मिस्टर ग्लैस्टन का जीवनचरित इस शाखा के आदर्श ग्रन्थ हैं। हिन्दी में ऐसे ग्रन्थ निकलने के लिए अभी बहुत समय दर-कार है। परन्तु अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए हिन्दी-भाषा-भाषी दो

चार सज्जन भी यदि हिन्दी लिखने का अभ्यास करें तो छोटे मोटे अनेक जीवनचरित थोड़े ही समय में तैयार हो सकते हैं। हिन्दी की कई मासिक पुस्तकों में प्रसिद्ध पुरुषों के जीवनचरित नियमपूर्वक निकलते हैं। उन्हें लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं, यह मैं अपने निज के अनुभव से कह सकता हूँ। इससे यह सूचित है कि इस साहित्य को लोग पसन्द करते हैं। अतएव यदि अच्छे अच्छे जीवनचरित प्रकाशित हों तो उनसे लेखक, प्रकाशक और पाठक सभीको लाभ पहुँच सकता है।

१०—पर्यटन-विषयक पुस्तकें

देश-दर्शन और पर्यटन-विषयक पुस्तकें भी साहित्य का एक अंग हैं। उनसे बहुज्ञता बढ़ती है। उन्हें पढ़ने में मन भी लगता है। जो देश या जो स्थान जिसने नहीं देखा उसका वर्णन पढ़ कर उसे तत्सम्बन्धिनी अनेक नई बातें मालूम हो सकती हैं। हिन्दी में इस विषय का एक बहुत अच्छा ग्रन्थ है। उसके कई भाग हैं। लेखक ने भारत के अनेक प्रान्तों में स्वयं भ्रमण करके इस पुस्तक की रचना की है। इसके सिवा चीन, जापान और इंगलैंड की जिन लोगों ने सैर की है उनमें से भी दो एक हिन्दी-हितैषियों ने अपनी यात्रा का वर्णन हिन्दी में पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। इस विषय की और भी दो एक पुस्तकें निकली हैं। पर इस अंग की पुष्टि के लिए इतनी पुस्तकें समुद्र में एक बूँद के बराबर हैं। अनेक भारतवर्षीय युवक प्रतिवर्ष विदेश-यात्रा करते हैं। यदि उनमें से दो एक भी

अपनी यात्रा का वर्णन हर साल प्रकाशित करें तो साहित्य के इस अंग की बहुत शीघ्र उन्नति हो जाय। परन्तु, बड़े दुःख की बात है कि ऐसे यात्रियों या प्रवासियों में से जो सज्जन हिन्दी से प्रेम रखते हैं और विदेश से हिन्दी में लिख लिख कर लेख भी भेजने की कृपा करते हैं वे जब इस देश को लौटते हैं तब औरों की तो बात ही नहीं, वे भी हिन्दी लिखने से पराङ्मुख हो जाते हैं।

१९—काव्य और नाटक

हिन्दी के साहित्य में काव्यों का बाहुल्य है। अनेक अच्छे अच्छे काव्य हैं। अनन्त काव्य-ग्रन्थ तो अब तक अप्रकाशित अवस्था ही में पड़े हुए हैं। सर्वाधिक संख्या शृंगार-रसप्रधान काव्यों की है, उससे कम भक्त कवियों के काव्यों की, उससे भी कम वीर-रस के काव्यों की। फुटकर विषयों के काव्य भी बहुत हैं। यह सब पुराने काव्यों की बात हुई। वर्तमान समय में जो काव्य हिन्दी में निकले हैं या निकल रहे हैं उनमें से कुछ बिरले कवियों की कृतियों को छोड़ कर शेष को काव्य या कविता कहते संकोच होता है। आजकल कवियों की संख्या बहुत बढ़ रही है। परन्तु जिस तरह के काव्य प्रकाशित होते हैं उनसे विशेष लाभ नहीं। "रङ्ग में भङ्ग" और "जयद्रथ वध" की कक्षा के काव्यों की इस समय आवश्यकता है। काव्यों की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सबकी समझ

में आ जाय—चाहे वह बोल-चाल की भाषा हो चाहे ब्रज की भाषा। ब्रज-भाषा न जानने या न लिखनेवालों को शाखा-मृग कहने का अब समय नहीं। काव्यों की रचना और उनका विषय ऐसा होना चाहिए जो देश और काल के अनुकूल हो। पढ़नेवाले के हृदय पर कविता पाठ का कुछ असर होना चाहिए; उससे सदुपदेश मिलना चाहिए; और कुछ नहीं, तो थोड़ी देर के लिए प्रमोदानुभव तो अवश्य ही होना चाहिए। भारत में अनन्त आदर्श-नरेश, देशभक्त, वीर-शिरोमणि और महात्मा हो गये हैं। हिन्दी के सु-कवि यदि उनपर काव्य करें तो बहुत लाभ हो। पलाशी का युद्ध, वृत्रसंहार, मेघनाद वध और यशवन्तराव महाकाव्य की बराबरी का एक भी काव्य हिन्दी में नहीं। वर्तमान कवियों को इस तरह के काव्य लिख कर हिन्दी की श्रीवृद्धि करनी चाहिए।

बाबू हरिश्चन्द्र के कई काव्य और अनुवाद बहुत अच्छे हैं। राजा लक्ष्मण सिंह-कृत मेघदूत का अनुवाद भी प्रशंसा के योग्य है। संस्कृत-काव्यों के जो और अनेक अनुवाद हिन्दी में हुए हैं वे उतने अच्छे नहीं। गोल्डस्मिथ के "हरमिट" का अनुवाद 'एकान्तवासी योगी' भी अच्छा है। पुराणादि के जो अनेक अनुवाद हिन्दी में हुए हैं उनसे हिन्दी-साहित्य को लाभ अवश्य हुआ है। पर उनमें पंडिताऊ ढंगवाले अनुवादों की भाषा संशोधन-योग्य है।

कुछ नाटकों को छोड़ कर हिन्दी में अच्छे नाटक भी नहीं।

इन 'कुछ' में से अर्धाधिक तो संस्कृत तथा कई अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवाद मात्र हैं। समाज की भिन्न भिन्न अवस्थाओं और दृश्यों का जैसा अच्छा चित्र अभिनय द्वारा दिखाया जा सकता है, वैसा अच्छा और किसी तरह नहीं। अभिनय के लिए ही नाटकों की रचना होती है। परन्तु, हिन्दी में नाटक के नाम से इस समय जो अनेक पुस्तकें वर्त्तमान हैं उनमें अधिकांश का ठीक ठीक अभिनय ही नहीं हो सकता। जो अच्छा कवि है, जिसने अनेक अभिनय देखे हैं, जो अभिनयस्थल और नेपथ्य की रचना आदि से परिचित है, जो मनुष्यस्वभाव और मानवी मनोविकारों का ज्ञाता है वही अभिनय करने योग्य अच्छे नाटकों की रचना कर सकता है। जो नाटक आजकल इन प्रान्तों में नाटक-कम्पनियों के द्वारा खेले जाते हैं वे प्रायः उर्दू में हैं। उनमें दिखलाये जानेवाले सामाजिक चित्र बहुधा अच्छे नहीं। उन्हें देख कर दर्शकों की—विशेष करके युवकों की—चित्तवृत्ति के कलुषित होने का डर रहता है। अतएव योग्य लेखकों द्वारा हिन्दी में अच्छे अच्छे नाटकों के लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है।

१२—उपन्यास

खुशी की बात है, हिन्दी साहित्य का यह अंग दिन पर दिन पुष्ट होता जा रहा है। यद्यपि हिन्दी में अच्छे उपन्यास, ढूँढ़ने से, दस ही पाँच निकलेंगे—यद्यपि हमारा साहित्य बुरे उपन्यासों के लिए बदनाम सा हो रहा है—तथापि उपन्यासों का अधिक प्रकाशित होना हिन्दी के उत्थान का शुभ लक्षण है।

उपन्यासों ही की बदौलत हिन्दी-पाठकों की संख्या में विशेष वृद्धि हुई है। उपन्यास चाहे जासूसी हों, चाहे मायावी, चाहे तिलिस्मी, विशेष करके कम उम्र के पाठकों को उन्होंने हिन्दी पढ़ने की ओर अवश्य आकृष्ट किया है। हिन्दी के उपन्यास का अधिकांश अन्य भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद मात्र है। अतएव दुःख इस बात का है कि यदि अनुवाद ही करना था तो चुन चुन कर अच्छी अच्छी पुस्तकों ही का अनुवाद क्यों न किया गया। परन्तु, जब किसी भाषा का उत्थान होता है तब सुरुचि की ओर एकदम ध्यान नहीं जाता। यह काम धीरे धीरे होता है। बंकिमबाबू और रमेशचन्द्रदत्त के उपन्यासों को आदर्श मान कर हमें उसी तरह के उपन्यासों से हिन्दी-साहित्य को अलंकृत करना चाहिए। इनके कई उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में हो भी चुके हैं। और विषयों की पुस्तकों की अपेक्षा उपन्यासों के पढ़नेवालों की संख्या अधिक हुआ करती है। अतएव अच्छे उपन्यासों से बहुत लाभ और बुरे उपन्यासों से बहुत हानि होने की सम्भावना रहती है। उपन्यासों में समाज के ऐसे चित्र होने चाहिएं जिनसे दुराचार की वृद्धि न हो कर सदाचार की वृद्धि हो। इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि कहानी बनावटी या अति प्रकृत न जान पड़े। यदि कहानी की घटनायें स्वाभाविक होंगी तभी पाठकों के चित्त पर उनका असर पड़ेगा और समझदार पाठकों का जी भी तभी पढ़ने में लगेगा। इन गुणों से पूर्ण कहानी लिखना कोई सरल काम नहीं। इसके

लिए बड़ी योग्यता चाहिए। आजकल हिन्दी में जो कहानियां निकलती हैं उनके अच्छे न होने का कारण स्पष्ट है। योग्य लेखकों को चाहिए कि उपन्यास-रचना को ओछा काम न समझ कर अच्छे उपन्यासों से समाज और साहित्य दोनों का कल्याण-साधन करें।

१३—समालोचना

वर्तमान हिन्दी-साहित्य में समालोचनाओं की कमी नहीं। कोई समाचारपत्र, कोई सामयिक पुस्तक, ऐसी नहीं जिसमें समालोचनायें न निकलती हों। परन्तु उनको समालोचना कहना भूल है। वे विज्ञापन मात्र हैं। और, जो लोग समालोचना के लिए पुस्तकें भेजते हैं उनका आन्तरिक अभिप्राय भी बहुधा यह होता है कि इसी बहाने हमारी पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित हो जाय। यथार्थ समालोचनायें भी कभी कभी निकलती हैं, परन्तु बहुत कम। समालोचना साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। उससे बड़े लाभ हैं। योग्य समालोचक अपनी समालोचना में समालोचित ग्रन्थ के ऐसे ऐसे रहस्य प्रकट करते हैं जो साधारण विद्या-बुद्धि के पाठकों के ध्यान में नहीं आ सकते। कभी कभी तो ऐसा होता है कि ग्रन्थकर्त्ता के आशय को समालोचक इस विशद भाव से व्यक्त करके दिखलाता है कि स्वयं ग्रन्थकर्ता को चकित होना पड़ता है। शकुन्तला और दुष्यन्त तथा पुरूरवा और उर्वशी की कथायें पुराणों में जिस प्रकार वर्णित हुई हैं कालिदास के नाटकों में उस प्रकार नहीं हुईं। उनमें

कवि ने क्यों और कहां तक परिवर्त्तन किया है; शकुन्तला में कवि ने दुर्वासा के शाप की क्यों अवतारणा की है; मेघदूत में कवि ने यक्ष ही को क्यों नायक बनाया है; धारिणी और औशीनरी, प्रियंवदा और अनसूया के स्वभाव में क्या अन्तर है—ये ऐसी बातें हैं जो सबकी समझ में नहीं आ सकतीं। समालोचक ऐसी ही ऐसी बातों की मीमांसा करता है और कवि के हृदय को मानों खोल कर सर्वसाधारण के सामने रख देता है। उसके गुणों को भी वह दिखाता है और दोषों को भी। बँगला में शकुन्तला-रहस्य और शकुन्तला तत्त्व आदि समालोचना-पुस्तकें ऐसी ही हैं।

दुःख है, ऐसी एक भी समालोचनात्मक पुस्तक हिन्दी में मेरे देखने में नहीं आई। हां, दो एक सत्समालोचनात्मक निबन्ध अवश्य मैंने देखे हैं। सच तो यह है कि ग्रन्थकार की जीवितावस्था में उसके ग्रन्थों की यथार्थ समालोचना नहीं हो सकती; अथवा यह कहना चाहिए कि होनी ही न चाहिए। इसीसे पश्चिमी देशों के विद्वान् बहुधा ऐसे ही ग्रन्थों की विस्तृत आलोचनायें करते हैं जिनके कर्त्ता इस लोक में विद्यमान नहीं। परन्तु हमारी हतभागिनी हिन्दी के विलक्षण साहित्य-संसार में ऐसा करने की आशा ही नहीं। जो बात अन्य उन्नत भाषाओं के साहित्यसेवी भूषण समझते हैं वही यहां दूषण मानी जाती है। यदि किसी प्राचीन कवि या ग्रन्थकार के ग्रन्थ की समालोचना में कोई उसके दोष दिखलाता है तो उसके लिए हिन्दी में यह कहा जाता है

कि उसने उस ग्रन्थकर्त्ता को चचोर डाला; उस पर मुष्टिका-प्रहार किया; उसका अञ्जर पञ्जर ढीला कर दिया; और, सैकड़ों मन भूसी फटक कर गेहूं का एक दाना निकाल लाया! समालोचक मूर्ख, उद्दण्ड, अभिमानी और उपहास-पात्र बनाया जाता है!! बड़े बड़े शास्त्री, विशारद, उपाध्याय और आचार्य्य उसके पीछे पड़ जाते हैं और उस पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि इसने पूजनीय प्राचीन ग्रन्थकारों की कीर्ति को कलङ्कित करने की चेष्टा की!!! जीवित ग्रन्थकारों के ग्रन्थों की समालोचना करना और प्रसंगवश उनके दोष दिखाना मानों उन्हें अपना शत्रु बनाना है; और परलोकवासी कवियों या लेखकों की पुस्तकों के प्रतिकूल कुछ कहना उनकी यशोराशि पर धब्बा लगाना है। इस "उभयतः पाशारज्जुः" की दशा में भगवान् ही हिन्दी साहित्य की इस शाखा की उत्पत्ति और उन्नति की कोई युक्ति निकाले तो निकल सकती है।

१४—फुटकर विषयों के ग्रन्थ

साहित्य की जिन शाखाओं का नामोल्लेख ऊपर किया गया उनके सिवा पुरातत्व, भूगोल, भवननिर्माण, नौका नयन, शिक्षण, व्यापार-वाणिज्य आदि और भी कितनी ही शाखायें हैं जिन पर अन्यान्य उन्नत भाषाओं में शतशः ग्रन्थों की रचना हुई है। तदतिरिक्त फुटकर विषयों के भी अनेक ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इन शाखाओं और विषयों की बहुत ही थोड़ी

पुस्तकों को छोड़ कर उल्लेख-योग्य अधिक पुस्तकें मेरे देखने में नहीं आईं ।

१५--भाषा

विषय के अनुसार भाषा में बहुत कुछ भेद हो सकता है। जैसा विषय हो, और जिस श्रेणी के पाठकों के लिए पुस्तक लिखी गई हो, तदनुसार ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। बच्चों और साधारण जनों के लिए लिखी गई पुस्तकों में सरल भाषा लिखी जानी चाहिए। प्रौढ़ और विशेष शिक्षित जनों के लिए परिष्कृत और अलङ्कारिक भाषा लिखी जा सकती है। वैज्ञानिक ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। अतएव उनमें कुछ न कुछ क्लिष्टता आ ही जाती है। वह अनिवार्य है। मैं तो सरल भाषा के लेखक ही को बहुत बड़ा लेखक समझता हूं। लिखने का मतलब औरों पर अपने मन के भाव प्रकट करना है। जिसका मनोभाव जितने ही अधिक लोग समझ सकेंगे उसका प्रयत्न और परिश्रम उतना ही अधिक सफल हुआ समझा जायगा। जितने बड़े बड़े लेखक हो गये हैं प्रायः सभी सीधी सादी और बहुजन-बोधगम्य भाषा के पक्षपाती थे।

आजकल कुछ लेखक तो ऐसी हिन्दी लिखते हैं जिसमें संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अँगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशीय शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं

करते; ढूँढ़ ढूँढ़ कर ठेठ हिन्दी-शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी की कोई हानि नहीं; प्रत्युत लाभ है। अरबी-फ़ारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार सम्भव नहीं।

६—उन्नति के उपाय

तीस चालीस वर्ष पहले हिन्दी साहित्य की जो अवस्था थी उससे इस समय की अवस्था अवश्य अच्छी है। परन्तु इस देश की अन्य समृद्धिशालिनी भाषाओं की अपेक्षा अब भी वह अत्यन्त हीनावस्था में है। हम हिन्दीभाषाभाषियों के लिए यह बड़े ही परिताप की बात है। जैसा ऊपर, एक जगह पर, कहा जा चुका है पुस्तकों ही द्वारा ज्ञान-वृद्धि होती है। और, जो समाज या जो जन-समुदाय जितना ही अधिक ज्ञानसम्पन्न होता है वह लौकिक और पारलौकिक, दोनों विषयों में, उतनी ही अधिक उन्नति कर सकता है। अतएव अपनी सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आदि हर तरह की उन्नति के लिए सब विषयों की अच्छी अच्छी पुस्तकों की हिन्दी में बड़ी ही आवश्यकता है। हिन्दी में इस लिए कि यही हमारी मातृ-भाषा है। इसी भाषा में दी गई शिक्षा से समाज का सर्वाधिक अंश लाभ उठा सकता है। इसी भाषा में वितरण

किये गये ज्ञान का प्रकाश गाँव गाँव, घर घर, पहुँच सकता है। यही हमारी भाषा है; यही हमारी माताओं की भाषा है; यही हमारी बहनों की भाषा है; यही हमारे बच्चों की भाषा है। अँगरेज़ी या अन्य किसी भाषा में दी गई शिक्षा से जितना लाभ पहुँच सकता है उससे सैकड़ों गुना अधिक लाभ मातृ-भाषा में दी गई शिक्षा से पहुँच सकता है।

किसी भी भाषा में नये नये ग्रन्थ पहले ही से नहीं निकलने लगते। जैसे जैसे शिक्षा-प्रचार और ज्ञानोन्नति होती जाती है वैसे ही वैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी बनते जाते हैं। अतएव जब तक नये नये ग्रन्थ निकलने का समय न आवे तब तक हमें चाहिए कि हम अँगरेज़ी और संस्कृत आदि भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का सरल हिन्दी में अनुवाद करके अपने देश और अपने जनसमुदाय का कल्याण-साधन करें। इन भाषाओं के साहित्य में अनन्त ज्ञानराशि भरी हुई है। उसकी प्राप्ति से जब हम लोगों की विद्याभिरुचि और ज्ञानसम्पन्नता बढ़ेगी तब हम लोग भी नाना विषयों के नये नये ग्रन्थ लिख कर अपने साहित्य की पुष्टि करेंगे। हाँ, जो लोग इस समय भी अपनी उन्नत शिक्षा और विशद विद्या के कारण नये नये ग्रन्थ लिख सकते हैं उनके लिए भाषान्तर-कार्य में प्रवृत्त होने की तादृश आवश्यकता नहीं। परन्तु प्रत्येक भाषा के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। अतएव भिन्न भिन्न भाषाओं के विशिष्ट ग्रन्थों के अनुवाद की आवश्यकता भी सदा बनी रहती है। अँगरेज़ी बहुत उन्नत

भाषा है। परन्तु उसमें भी, अब तक, प्रति वर्ष, अन्य भाषाओं की पुस्तकों के सैकड़ों अनुवाद होते हैं।

हमारी भाषा की शिक्षा और हमारे साहित्य की उन्नति के विषय में गवर्नमेंट और विश्वविद्यालय का जो कर्त्तव्य है उसके पालन में यदि एक भी दोष न हो, एक भी त्रुटि न हो, एक भी भूल न हो, तो भी उस मार्ग से हमारे साहित्य की सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती। ऐसी उन्नति का होना एक मात्र हमारे हाथ में है। उद्योग करने से हमीं अपने साहित्य को उन्नत कर सकते हैं और उद्योग न करने से हमीं उसे रसातल पहुंचा सकते हैं। और प्रान्तों के राजा, महाराजा, तअल्लुकदार और धनी अपनी मातृ-भाषा के लिए लाखों रुपये खर्च करते हैं। वे जानते हैं कि अज्ञानों को सज्ञान करना, अशिक्षितों को शिक्षा देना, और ज्ञान-प्रसार के प्रधान साधन उत्तमोत्तम ग्रन्थों के रचयिताओं को उत्साहित करना पुण्य-कार्य है। परन्तु, बड़े दुःख की बात है, इन प्रान्तों में ऐसे एक ही दो रमारमण निकलेंगे जो इस सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्यपालन करते हों। हिन्दी की वर्त्तमान हीनावस्था में बहुत कम लोग साहित्य-सेवा का व्यवसाय करके सुख से जीविकानिर्वाह कर सकते हैं। अतएव साहित्य-सेवकों के लिए उत्साह-दान की बड़ी आवश्यकता है।

परन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता एक और ही बात की है। हम लोगों में अपनी मातृ-भाषा के प्रेम की बहुत कमी है।

जिन्होंने अँगरेज़ी की उच्च शिक्षा पाई है—जो संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान हैं—वे हिन्दी का अनादर करते हैं। यदि यह इस लिए कि हिन्दी भिखारिनी है तो इसके एकमात्र उत्तर-दाता हमीं हैं। इसका पाप एकमात्र हमारे ही सिर है। जो मनुष्य अपनी माता का अनादर करता है, जो मनुष्य रेशमी परिच्छद पहन कर चीथड़ों में लिपटी हुई अपनी माता की तरफ़ घृणाव्यञ्जक कटाक्ष करता है, जो मनुष्य समर्थ हो कर भी अपनी माता का उद्धार आपदाओं से नहीं करता उसे यदि और कुछ नहीं तो क्या लज्जा भी न आनी चाहिए? माता के बिना मनुष्य का काम केवल बाल्यावस्था में नहीं चल सकता; परन्तु मातृ-भाषा के बिना तो किसी भी अवस्था में मनुष्य का काम नहीं चल सकता। इसीसे माता और मातृभाषा की इतनी महिमा है। अतएव हमारे उच्च शिक्षा पाये हुए भाइयों को चाहिए कि वे हिन्दी लिखने और पढ़ने का अभ्यास करें; हिन्दी के साहित्य को उन्नत करने की चेष्टा करें; हिन्दी को नफ़रत की निगाह से देखना बन्द कर दें। यदि वे इस तरफ़ ध्यान दें तो न किसी और से कुछ कहने की आवश्यकता है, न किसी और से सहायता माँगने की आवश्यकता है, न किसी और से उत्साह पाने की आवश्यकता है। और, कोई कारण नहीं कि वे अपनी भाषा की उन्नति का यत्न न करें। जिस अँगरेज़ी शिक्षा का उन्हें इतना गर्व है उसके आचार्य बड़े बड़े विद्वान् अँगरेज़ क्या अपनी मातृभाषा की सेवा नहीं करते? बड़े बड़े बंगाली, मदरासी, गुजराती, महाराष्ट्र और

मुसलमान सिविलियन तक क्या अपनी अपनी भाषाओं में पुस्तक-रचना नहीं करते? क्या हिन्दी भाषा-भाषियों की उच्च शिक्षा में सुरख़ाब का पर लगा हुआ है? यदि हमें अँगरेज़ी से अतिशय प्रेम है तो हम खुशी से उसमें अपने विचार प्रकट कर सकते हैं, लेख लिख सकते हैं, पुस्तक-रचना कर सकते हैं। परन्तु क्या वर्ष छः महीने में एक आध लेख भी हिन्दी में लिखडालना हमारे लिए कोई बड़ी बात है? हमें याद रखना चाहिए कि अँगरेज़ी लेखों और पुस्तकों से समाज या देश के बहुत ही थोड़े लोगों को लाभ पहुँच सकता है। अतएव उसकी तरफ़ कम और अपनी निजकी भाषा को तरफ़ हमें विशेष सदय होना चाहिए। जिस समाज में हम उत्पन्न हुए हैं — जिस प्रान्त या देश में हमने जन्म लिया है—उसका विशेष कल्याण उसीकी भाषा को उन्नत करने से हो सकता है। जिस समाज और जिस देश की बदौलत हम सभ्य, शिक्षित और विद्वान् हुए हैं उसे अपनी सभ्यता, शिक्षा और विद्वत्ता से लाभ न पहुंचाना घोर कृतघ्नता है। इस कृतघ्नता के पाश से हम तब तक नहीं छूट सकते जब तक अपनी निजकी भाषा में पुस्तक-रचना और समाचार-पत्र-सम्पादन करके अपनी सभ्यता, अपनी शिक्षा और अपनी विद्वत्ता से सारे जन-समुदाय को लाभ न पहुँचावें।

आइए, तब तक हमीं लोग, अपनी अल्प शक्ति के अनुसार, कुछ विशेषत्वपूर्ण काम कर दिखाने की चेष्टा

करें। 'हमीं' से मेरा मतलब, शिक्षितों के मतानुसार, उन अल्पज्ञ और अल्पशिक्षित जनों से है जो इस समय हिन्दी के साहित्य-सेवियों में गिने जाते हैं और जिनमें मैं अपने को सबसे निकृष्ट समझता हूं। पिछले साहित्य-सम्मेलन ने क्या काम किया और क्या न किया, इस पर विचार करने की यहाँ, इस लेख में, आवश्यकता नहीं। उसकी तो रिपोर्ट भी अब तक मेरे देखने में नहीं आई। आवश्यकता इस समय हिन्दी में थोड़ी सी अच्छी अच्छी पुस्तकों की है। विभक्तियां मिला कर लिखनी चाहिए या अलग अलग, पाई, गई और आई आदि शब्दों में केवल ई-स्वर लिखना चाहिए या ई-युक्त यकार; पर-सवर्ण सम्बन्धी नियम का पालन करना करना चाहिए या केवल अनुस्वार से काम लेना चाहिए—ये तथा और भी ऐसी ही अनेक बातों पर विचार करने की भी आवश्यकता है। परन्तु तदपेक्षा अधिक आवश्यकता उपयोगी विषयों की कुछ पुस्तकें लिखने की है। आइए, हमलोग मिल कर भिन्न भिन्न विषय की एक एक पुस्तक लिखने का भार अपने ऊपर लेले; और एक वर्ष बाद, उसकी छपी हुई या हस्तलिखित कापी अगले सम्मेलन में उपस्थित करके यह दिखला दें कि अपनी मातृभाषा हिन्दी पर हमारा कितना प्रेम है और उसकी सेवा करना हम कहां तक अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अल्पज्ञता के कारण हमसे यह काम उतना अच्छा न हो सकेगा जितना अच्छा संस्कृत और अङ्गरेज़ी के पराङ्गत विद्वानों से हो

सकता। परन्तु इसके लिए हमें दोष नहीं दिया जा सकता। मुझे आशा है कि हमारी दोषपूर्ण रचनाओं को देख कर, स्तन्यपान के समय अपनी प्यारी मां से सीखी हुई भाषा की दुर्दशा को देख कर, हिन्दी-भाषा-भाषी अङ्गरेज़ी और संस्कृत के विद्वानों को हम पर—और हम पर नहीं तो अपनी मातृ-भाषा पर—अवश्य दया आवेगी और वे अवश्य ही उसके उद्धार का कार्य आरम्भ कर देंगे। बस, मुझे अब इतनी ही प्रार्थना करना है कि—

"अयुक्तमस्मिन्यदि किञ्चिदुक्तमज्ञानतो वा मतिविभ्रमाद्वा।
औदार्यकारुण्यविशुद्धधीभिर्मनीषिभिस्तत्परिमार्जनीयम्॥"

[अक्टोबर १९११

८—कौंसिल में हिन्दी

जिस समय सर अन्टोनी मेकडानल इस प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे उस समय, १९००ई० में, उन्होंने यह नियम कर दिया कि दीवानी, फ़ौजदारी और माल की किसी भी अदालत में जिसका जी चाहे देवनागरी-लिपि में अर्जी-दावे और अर्जियाँ दे और जिसका जी चाहे फारसी-लिपि में। उन्होंने यह भी नियम कर दिया कि समन और भिन्न भिन्न प्रकार की विज्ञप्तियाँ आदि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में कचहरियों से जारी की जायँ; अंगरेजी के दफ़्तरों को छोड़ कर और कचहरियों के कर्म्मचारियों को साल भर के अन्दर हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषायें सीख लेने का भी हुक्म हो गया। इससे देवनागरी-लिपि में अर्ज़ियाँ इत्यादि लेने और समन इत्यादि निकालनेवाली अदालतों के हाकिमों और मुलाज़िमों के लिए दोनों लिपियाँ जानना आवश्यक हो गया। यह सब कुछ तो हुआ, पर जिन लोगों के बाप-दादों की बदौलत नागरी-लिपि उत्पन्न हुई और अब तक जीती है, जिनके धर्म्म-कर्म्म के सारे ग्रन्थ इसी लिपि में हैं मरने के समय जिनके कान में इसी लिपि में लिखे गये धर्म्मोपदेश और राम-नाम पड़ते हैं उन्हींकी कृपा से सर अन्टोनी मेकडानल की पूर्वोक्त आज्ञा यथेष्ट फलीभूत न हुई। उन्होंने अपनी पूर्व-परिचित्त भाषा और टेढ़ी-मेढ़ी लिपि लिखना न छोड़ा। यदि

किसीने इस आज्ञापत्र के अनुसार देवनागरी-लिपि से काम लेना भी चाहा तो उदारता के इन अवतारों में से अधिकांश ने उसके मार्ग में बबूल के बड़े बड़े काँटे बखेरने से हाथ न हटाया। यदि ये लोग अपने कर्त्तव्य का पालन करते तो करोड़ों आदमियों को लाभ पहुँचता। अब तक वे देवनागरी ही में कचहरी का काम करने लग जाते और सम्मन, इत्तिलानामे आदि पढ़ाने के लिए उन्हें कोसों न दौड़ना पड़ता। उर्दू की तरह वे हिन्दी (देवनागरी) में भी लिखे जाते। अभी तो सम्मनों की देवनागरी-वाली फ़र्द बहुधा कोरी ही रह जाती है। अभी उस दिन हमने एक ऐसा सम्मन देखा जो छपा देवनागरी में था, पर खानापुरी की गई थी फ़ारसी-लिपि में!

पूर्वोक्त आज्ञा देकर गवर्नमेन्ट ने अधिकांश लोगों के लिए बहुत सुभीता कर दिया। उसे करना ही चाहिए था। प्रजा-रञ्जक राजा का यह कर्त्तव्य ही है। इन प्रान्तों में हिन्दी भाषा और देवनागरी-लिपि के जाननेवाले ही अधिक हैं इसीसे गवर्नमेन्ट ने यह भी नियम कर दिया है कि—

(१) आई० सी० एस० श्रेणी के बड़े बड़े कर्मचारियों, (२) डिपुटी कलेक्टरों और (३) पुलिस के असिस्टैंट और डिपटी सुपरिंटेंडेंटों के लिए भी देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियाँ जानना ज़रूरी है। अब तो वह लीडरों, वकीलों, और एल-एल० बी० की परीक्षा पास कनूनदाँ लोगों को भी देवनागरी-लिपि और हिन्दी भाषा सीखने के लिए मजबूर करती है। याद रहे, यही लोग बहुत करके मुन्सिफ़ और

सब-जज नियत होते हैं। अर्थात् नागरी और फ़ारसी, दोनों लिपियों, से इनका परिचय पहले ही से रहता है ।

एक मुन्सिफ़ साहब ने गवाहों के बयान देवनागरी-लिपि में लिख डाले। इसपर होहल्ला मचा। अख़बारों में लेख निकले। कहा गया कि नागरी-लिपि में बयान क्यों लिखे गये। फ़ारसी ही में लिखना था। इस पर माननीय चिन्तामणि ने प्रान्तिक कौंसिल में कुछ पूछ-पाछ की। गवर्नमेंट ने उत्तर में कहा वर्त्तमान पद्धति में फेरफार न किया जायगा। अर्थात् इज़हार आदि; आजकल सब फ़ारसी लिपि में लिखे जाते हैं, वे वैसे ही लिखे जायँगे। इससे माननीय महाशय की परितुष्टि न हुई। इस कारण, २६ फरवरी १६१७ की बैठक में, उन्होंने प्रान्तीय कौंसिल में एक प्रस्ताव उपस्थित किया।

उसका आशय यह था—

जो लोग मुन्सिफ़ और सब-जज (सदरआला) नियत हों उनके लिए केवल फ़ारसी-लिपि में हिन्दुस्तानी (उर्दू) भाषा लिख-पढ़ सकना ही लाज़िम न समझा जाय, देवनागरी-लिपि में हिन्दी-भाषा लिख-पढ़ सकना भी लाज़िमी समझा जाय।

उन्होंने इस प्रस्ताव का उत्थापन बड़ी योग्यता से किया। अच्छी युक्तियों से काम लिया। तर्क-सङ्गत भाषण किया। अपने कथन की पुष्टि में प्रमाण भी दिये। बलाबल का ख़ूब विचार किया। कहा—गवर्नमेंट ही के कर्म्मचारियों के हाथ से लिखी गई मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से मेरे प्रस्ताव के "पास" किये जाने की आवश्यकतासिद्ध है। इस प्रान्त में हिन्दी जानने-

वाले कोई ४$\frac{1}{8}$ करोड़ और उर्दू जाननेवाले केवल ४१ लाख हैं। अर्थात् १० हज़ार आदमियों में से ९,११६ आदमी हिन्दी और केवल ८५३ उर्दू बोलनेवाले हैं। अतएव गवर्नमेंट को मेरी बात मान लेनी चाहिए और मुन्सिफ़ों तथा सब-जजों के लिए यह आज्ञा हो जानी चाहिए कि वे देवनागरी-लिपि में हिन्दी-भाषा भी लिख-पढ़ सकने की योग्यता प्राप्त कर लिया करें।

माननीय लाला मधुसूदनदयाल ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

इसका विरोध माननीय नवाब अब्दुलमजीद ने किया। आपने प्रस्ताव के शब्दों का कुछ भी ख़याल न करके अधिकतर अप्रासङ्गिक बातों ही के द्वारा अपने हृदय के विकार प्रकट किये। आपने कहा—

(क) हिन्दी उर्दू का झगड़ा ज़िन्दा रखने ही के लिए यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया है।

(ख) उर्दू-भाषा मुसलमानों ही की बदौलत अस्तित्व में आई और उन्नति को पहुँची है। वह अब सारे भारत की राष्ट्र-भाषा (Lingua Franca) है। देहाती गंवार तक उसे बोल सकते और समझ सकते हैं। जिसे हिन्दी कहते हैं वह सर्वसाधारण की भाषा नहीं।

(ग) अंगरेज़ी राज्य के पहले हिन्दी भाषा का नाम तक किसीको न मालूम था। हिन्दी-लिपि शायद रही हो, पर उस लिपि में अपने विचार प्रकट करनेवाले लोग गंवार ही समझे जाते थे।

(घ) हिन्दी-भाषा अच्छी तरह समझ लेना मुसलमानों के लिए कठिन काम है, क्योंकि उसमें संस्कृत के लम्बे लम्बे शब्द रहते हैं।

(ङ) हिन्दी-लिपि लिखनेवाले स्वयं ही उस लिपि को आसानी से नहीं पढ़ सकते। उसे लिखने में फ़ारसी लिपि से अधिक देर भी लगती है। मुसलमान कठिनता से उसे सीख सकते हैं।

यह सुन कर कौंसिल के प्रेसीडेन्ट ने कहा कि आपका यह कथन अप्रासङ्गिक है। तब और कुछ कह कर आप बैठ गये।

गवर्नमेंट की तरफ़ से माननीय मिस्टर बर्न ने भी इस प्रस्ताव का प्रतिवाद किया। आपने जो दलीलें पेश कीं उनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं—

(च) मुन्सिफों और सब-जजों को नागरी-लिपि में लिखी हुई बहुत कम दस्ततावेज़ें देखने की ज़रूरत पड़ती है। फ़ारसी लिपि ही में अधिकांश दस्तावेज़ें पेश की जाती हैं।

(छ) हाईकोर्ट के एक हिन्दुस्तानी जज की राय है कि इस सूबे के शिक्षित आदमियों को हिन्दी पढ़ने में बड़ी दिक़त होती है। एक बारिस्टर ने मुझसे उस दिन यह कहा कि हिन्दी की कुछ दस्तावेज़ें पढ़ सकने-वाला एक भी आदमी इलाहाबाद में उन्हें न मिला।

(ज) जो लोग कचहरियों की शरण लेते हैं वे वकीलों और मुख़तारों से अर्ज़ियां वग़ैरह लिखाते हैं और ऐसे वकील-

मुख़तार बहुत ही थोड़े हैं जो देवनागरी लिख सकते हों, या लिखना चाहते हों। अतएव हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि का जानना लाज़मी कर देने से कुछ फ़ायदा न होगा।

इसके बाद माननीय मिस्टर रज़ाअली ने यह उपप्रस्ताव पेश किया—

(क) प्रस्ताव से—"देवनागरी-लिपि में हिन्दी-भाषा"—निकाल दी जाय। उसकी जगह पर—"फ्रेंच, रशियन, इटालियन या फ़ारसी"—कर दी जाय।

आपने कहा—

(ञ) हिन्दी कोई भाषा नहीं। १६०० या १८६८ ईस्वी के पहले का ऐसा एक भी सरकारी लेख या काग़ज़ नहीं पेश किया जा सकता जिसमें गवर्नमेंट ने हिन्दी को भी कोई भाषा माना हो। जब वह कोई भाषा ही नहीं तब फ्रेंच और रशियन आदि का जानना क्यों न लाज़मी कर दिया जाय? इससे उन मित्र राज्यों से हमारा सम्बन्ध और भी गहरा हो जायगा जो हमारे साथ लड़ रहे हैं।

(ट) इस प्रान्त में इतने आदमी उर्दू बोलते हैं, इतने हिन्दी, इसका हिसाब जैसा बताया गया है, ठीक नहीं। मर्दुमशुमारी के अङ्क विश्वास-योग्य नहीं। मुसलमान शुमार-कुनिन्दों ने लोगों की भाषा उर्दू लिख दी है, हिन्दुओं ने हिन्दी।

माननीय ख़ान-बहादुर सैयद अलीनबी और माननीय वज़ीरहसन ने भी प्रस्ताव का विरोध किया, पर अपने कथन

की पुष्टि में कोई अच्छी दलील नहीं पेश कर सके। माननीय वज़ीरहसन ने जो कुछ कहा, अधिक असंगत भाषा में नहीं कहा। उन्होंने कहा कि जिस भाषा में रामायण है क्या वही भाषा इस प्रान्त के लोग बोलते या लिखते हैं? इस प्रस्ताव के विरोध में जो सङ्गत या असङ्गत और प्रासङ्गिक या अप्रासङ्गिक बातें कही गईं सबका युक्तिपूर्ण उत्तर माननीय पण्डित तारादत्त गैरोला, लाला सुखवीर सिंह, पण्डित राधाकृष्ण दास और स्वयं प्रस्तावकर्त्ता महाशय ने दिया। प्रत्येक दलील की असारता सिद्ध कर दी गई। पर प्रस्ताव "पास" न हुआ। जिस प्रस्ताव का विरोध गवर्नमेंट करती है वही नहीं "पास" हो सकता। इसके विरोधी तो हमारे मुसलमान महाशय भी थे। अतएव इसकी जो दशा हुई वही इसके भाग्य में थी। तथापि जिस योग्यता से प्रस्ताव उपस्थित किया और जिस योग्यता से उन्होंने तथा उनके साथी अन्य हिन्दू मेम्बरों ने विरोधियों की बातों का उत्तर दिया, उसके लिए वे हिन्दी के प्रेमियों के धन्यवाद-पात्र हैं।

मुख्य प्रस्ताव नामंज़ूर होने पर माननीय रज़ाअली ने अपना फ्रेंच, रशियन आदि भाषाओं से सम्बन्ध रखनेवाला उपप्रस्ताव बड़ी खुशी से लौटा लिया और इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि इस प्रस्ताव का यही परिणाम होना चाहिए था।

इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में विरोधी-दल ने जिस प्रकार की युक्तियां लड़ाईं, जिस प्रकार के निःसार और निराधार

उद्‌गार निकाले और जिस प्रकार एक ज़रा सी बात का बतङ्गड़ बनाया, उससे सूचित हुआ कि या तो इस दल के माननीय मेम्बरों को अपने विषय की कुछ खबर ही नहीं, या जिद में आकर कुछ का कुछ कहने में उन्हें सङ्कोच ही नहीं। उनके प्रतिवाद-वाक्यों से अनभिज्ञता कम, पर हठ और दुराग्रह अधिक प्रकट हुआ। प्रजा के सुशिक्षित प्रतिनिधियों में इस दोष का होना बड़े ही परिताप की बात है।

प्रस्ताव से हिन्दी उर्दू के झगड़े की ज़रा भी गन्ध नहीं आती। हिन्दी और उर्दू ये दोनों भाषायें इस प्रान्त में प्रचलित हैं। सब-जजों और मुन्सिफ़ों के लिए उर्दू-भाषा और और फ़ारसी-लिपि जानने की कैद है। फिर कोई कारण नहीं कि वे हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि क्यों न जानें? प्रजा का अधिकांश यही पिछली भाषा और पिछली लिपि जानता है। अतएव उनके जानने की तो और भी ज़रूरत है। फिर, प्रस्ताव में इसका कहीं उल्लेख नहीं कि पूर्वोक्त अफ़सर इस भाषा और इस लिपि में भी अपने फैसले और गवाहों के बयान लिखा करें। जिस लिपि या जिस भाषा में वे लिखते आये हों, लिखते रहें। हिन्दी-नागरी से सिर्फ जानकारी प्राप्त कर लें। बस, और कुछ नहीं। सो इस इतनी सीधी सादी बात पर बड़े बड़े तूमार बांधे गये और निराधार कल्पनायें की गईं। उर्दू-भाषा और फ़ारसी-लिपि को पदच्युत करने के लिए ज़रा भी कोशिश नहीं की गई। कोशिश सिर्फ इस बात की की गई कि सब-जज और मुन्सिफ़ थोड़ी सी हिन्दी भी

जान लें, और देवनागरी-लिपि भी सीख लें, जिससे हिन्दी के दस्तावेज़ और हिन्दी में लिखे हुए अर्ज़ीदावे तो वे पढ़ सकें। परन्तु इस इतनी ही कोशिश—और कोशिश भी ऐसी जो सर्वथा न्यायसङ्गत थी—करनेवालों पर अनुदार आक्षेपों की झड़ी लगा दी गई।

एक बात और भी विचार-योग्य है। गवर्नमेंट की वह आज्ञा तो रद हुई नहीं जिसकी रू से लोगों को अर्ज़ीदावे आदि देवनागरी-लिपि में देने की इजाज़त है। अब प्रश्न यह है कि यदि सब-जज और मुन्सिफ़ यह लिपि न जानेंगे तो इसमें लिखी गई अर्ज़ियाँ पढ़ कैसे सकेंगे। या तो वह आज्ञा रद कर दी जाय या गवर्नमेंट के "मन्युअल" में तदनुकूल फेरफार किया जाय। इसी फेरफार के लिए ही यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया था। इससे तो गवर्नमेंट की पूर्वोक्त आज्ञा के अनुसार काम होने में विशेष सुभीता होता। चाहिए तो यह था कि गवर्नमेंट खुद ही यह फेरफार कर देती। पर यदि उसने स्वयं ही नहीं किया तो प्रार्थना की जाने पर तो कर देना था। वकालत-या एल-एल बी० की परीक्षा पास करके जो लोग मुन्सिफ़ होते हैं—और मुन्सिफ़ ही तरक्की पाकर प्रायः सब-जज हो जाते हैं—वे तो थोड़ी बहुत हिन्दी जानते ही हैं। उन्हें तो उसमें परीक्षा भी देनी पड़ती है। इस दशा में कुछ ही मुन्सिफ़ और सब-जज ऐसे होंगे जो हिन्दी भाषा और देव-नागरी-लिपि से अनभिज्ञ होंगे। तथापि, खेद की बात है, गवर्नमेंट ने, इतने पर भी, इस प्रस्ताव का विरोध किया।

इस सम्बन्ध में गवर्नमेंट को उतना दोष नहीं दिया जा सकता जितना प्रतिवादकर्त्ता मुसलमान मेम्बरों को। गवर्नमेंट को अपनी नीति का भी पालन करना पड़ता है। किसी बात का विचार करते समय उसे उसको अनेक दृष्टियों से देखना पड़ता है। जो बात उसे आज इष्ट जान पड़ती है, कारण उपस्थित हो जाने पर, वही कल उसे अनिष्ट मालूम होती है। क्योंकि—

" वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा "

अतएव, सम्भव है, गवर्नमेंट ने किसी विशेष नीति के पालन के लिए ऐसे सीधे-सादे और अधिकांश प्रजा के लिए इतने सुभीते के प्रस्ताव का विरोध करना उचित समझा। अस्तु।

इस प्रस्ताव के अन्य विरोधियों की दलीलों का—दलीलों का क्या अप्रासङ्गिक और असार कथन मात्र का—खण्डन वहीं कौंसिल ही में कर दिया गया था। इसके बाद हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ी के अनेक समाचारपत्रों में भी समुचित उत्तर दिये जा चुके हैं। अतएव हमें इस सम्बन्ध में कुछ विशेष निवेदन करने की आवश्यकता नहीं। हम संक्षेप ही में उनकी बातों पर विचार करेंगे।

अच्छा, तो नवाब साहब की बातों का उत्तर लीजिए। कौंसिल में जो "स्पीचें" हुईं उनसे सिद्ध है कि मुसलमान महोदय हिन्दी का नाम सुनते ही चिढ़ते हैं। वे उर्दू को भारत के सारे मुसलमानों की तो भाषा बताते ही हैं; उसे

वे संयुक्तप्रांत के हिन्दुओं की भी भाषा बताते हैं। इतनी ग़लतबयानी करके भी वे शान्ति-पूर्वक बहस नहीं करते। बहुत ही कड़वी और उत्तेजक बातें तक कह डालते हैं। विपरीत इसके हिन्दू, वाद-विवाद के समय, शान्ति और संयम को हाथ से नहीं जाने देते; जो कुछ कहते हैं सप्रमाण और तर्कसङ्गत कहते हैं। पर उनकी तर्क-सिद्ध बातों ही को मुसलमान-मेम्बर एक प्रकार का दोष समझते हैं। उन्होंने कौंसिल में यहां तक कह दिया कि प्रस्तुत प्रस्ताव में कुतर्क के सिवा और कुछ सार नहीं। उसके मंज़ूर हो जाने से कार्य्य-सिद्धि कुछ भी न होगी। जैसे असङ्गत, अनावश्यक तर्क-हीन बातें ही कार्य्य की सिद्धि और आवश्यकता की सूचक हों!

(क) प्रस्ताव में हिन्दी-उर्दू के झगड़े की कहीं बू तक नहीं, पर यदि प्रस्तावकर्त्ता ने हिन्दी को उर्दू का समकक्ष बना देने ही के इरादे से प्रस्ताव किया हो, तो भी उनका यह काम अनुचित नहीं कहा जा सकता। उर्दू को मुसलमान अपनी भाषा समझते हैं। उर्दू के प्रचार के लिए जिस तरह मुसलमान दत्तचित्त हैं उसी तरह हिन्दी के प्रचार के लिए यदि हिन्दू दत्तचित्त हों तो इसमें अस्वाभाविकता या अनौचित्य कैसा! उर्दू का अब तक अकण्टक राज्य रहा है। कोई कारण नहीं कि प्रजा के सुभीते के लिए उस राज्य के कुछ अंश की अधिकारिणी हिन्दी भी न समझी जाय। जो बात जैसी है उसे वैसी ही रहने देना संसार की गति के

सर्वथा प्रतिकूल है। मुसलमानों को पहले अलग "वोट" देने और अपने अलग मेम्बर कौंसिलों में भेजने का अधिकार न प्राप्त था। अब क्यों प्राप्त है? पहले उनके मकतबों के लिए अलग इन्सपेक्टर्स न थे। अब क्यों हैं? नये म्युनीसिपैलिटी ऐक्ट में उनके लिए जो सुभीते किये गये हैं वे क्या पहले भी थे? यह कहां का न्याय है कि जिस बात से उन्हें लाभ पहुँचे उसके सम्बन्ध में तो वे हिन्दुओं से झगड़ा हो जाने की ज़रा भी परवा न करें, पर जिसके सम्बन्ध में उन्हें व्यर्थ ही अपनी हानि हो जाने का भय हा उसका उत्थान होते ही वे उसे दबाने की चेष्टा करें! जिस काम से झगड़े की सम्भावना हो उस पर तो दोनों पक्षों को खुले दिल से और भी अधिक विचार करना चाहिए। बिना विचार किये झगड़े की जड़ ही न जायगी। उसका भय सदा बना ही रहेगा। हिन्दी का प्रचार किसीके दबाने से दब नहीं सकता। अतएव उसका सामना करना ही चाहिए और आपस में फैसला कर ही लेना चाहिए। हज़ारों हिन्दू उर्दू लिखते पढ़ते हैं। पर मुसलमान हिन्दी के नाम ही से कोसों दूर भागते हैं। यह कैसी उदारता है! ऐसे वर्ताव से झगड़ा उत्पन्न होता और बढ़ता है, दबता या घटता नहीं। न हमें उर्दू से नफ़रत है और न हम उसे सीखना ही छोड़ना चाहते हैं; पर अपने सुभीते के लिए हिन्दी का प्रचार अवश्य चाहते हैं।

(ख) यह हम मान लेते हैं कि मुसलमानों ही की बदौलत उर्दू अस्तित्व में आई है। पर उसके उन्नायक एकमात्र

मुसलमान ही नहीं। बहुत पुराने ज़माने से हिन्दू उर्दू-फारसी सीखते आये हैं। उनकी लिखी हुई सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं। अब तक भी कितने ही स्कूलों और कालेजों में उर्दू-फारसी पढ़ानेवाले अध्यापक तक हिन्दू हैं। पञ्जाब और संयुक्तप्रान्त से उर्दू के कोड़ियों अख़बार ऐसे निकलते हैं जिन के लेखक और सम्पादक हिन्दू ही हैं। इस दशा में मुसलमानों ही को उर्दू की उन्नति का कारण समझना भ्रम के सिवा और कुछ नहीं हो सकता है।

यदि उर्दू भारत की राष्ट्र-भाषा (Lingua Franca) है तो उसके लिए इसी प्रान्त के मुसलमान क्यों इतना शोर मचाते हैं ? हिन्दुओं का तो ज़िक्र ही नहीं, और प्रान्तों के अधिकांश मुसलमान भी तो ऐसा नहीं करते। इस प्रान्त के अपढ़ गँवारों की भाषा उर्दू होना तो दूर की बात है, बङ्गाल, मद्रास और बम्बई प्रान्त के शिक्षित मुसलमान भी उर्दू नहीं बोलते। वे सब अपने अपने प्रान्त की बोली या भाषा बोलते हैं। यही हाल इस प्रान्त के देहाती मुसलमानों का भी है। इसके लिए प्रमाण की ज़रूरत नहीं। चाहे जिस मौजे में चले जाइए, मुसलमानों की बोलीमें फ़ारसी-अरबी के क्लिष्ट शब्द कहीं ढूँढ़े न मिलेंगे। और जिस भाषा में इस तरह के शब्दों की भरमार नहीं, वह हिन्दी के सिवा और कुछ नहीं। यही इस प्रान्त की प्रधान भाषा है।

(ग) अंगरेज़ी-राज्य के पहले हिन्दी का नाम यदि "हिन्दी" न रहा हो तो इससे हिन्दीका अस्तित्व-लोप तो सिद्ध

होता नहीं। ज़रा आप आज़ाद की किताब आबे-हयात तो पढ़िए। कोई २०० वर्ष पूर्व भी मुसलमान-लेखकों तक ने "हिन्दी" का अस्तित्व स्वीकार किया है। जिसे उस समय कुछ लोग "भाषा" कहते थे वही आज कल, विशेषरूप से, हिन्दी कही जाती है। और, इस "भाषा" में अकबर और ख़ानख़ाना तक ने कविता की है। रसखान, क़ादिर और जायसी आदि और भी कितने ही मुसलमान-कवियों ने इसे अपनाया था, इसकी तो गिनती ही नहीं। सजीव भाषा में सदा ही परिवर्तन होता रहता है। सौ वर्ष पूर्व की उर्दू वैसी भाषा न थी जैसी आजकल की है। हिन्दी भी पहले की जैसी नहीं। पहले तो हिन्दी-उर्दू में बहुत ही कम अन्तर था। जब से मुसलमान उर्दू में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का मिश्रण बढ़ाने लगे, अतएव जब से वह साधारण हिन्दुओं की समझ में कम आने लगी, तभी से वह हिन्दी से दूर जा पड़ी और तभी से हिन्दी में संस्कृत-शब्दों के मेल की प्रवृत्ति बढ़ी। सच तो यह है कि आपकी उर्दू कोई जुदा भाषा ही नहीं। वह केवल हिन्दी है। हिन्दी-व्याकरण की सहायता के बिना उर्दू का एक भी वाक्य नहीं बोला जा सकता। वर्तमान उर्दू में १५० वर्ष पहले की लिखी हुई एक भी पुस्तक नहीं।

हिन्दी (देवनागरी) लिपि में जो अपने विचार प्रकट करे वह गँवार, नवाब साहब ही ऐसा कह सकते हैं। यदि यही बात है तो बिहार, मध्य-प्रदेश और मध्य-भारत में जितने नाज़िर, पेशकार, महाफ़िज दफ़्तर, वकील, मुख़्तार, मास्टर और इन्स्पे-

क्टर कचहरियों और स्कूलों में देवनागरी-लिपि लिखते हैं वे सभी गँवार ठहरे !!! हिन्दी-लिपि लिखनेवालों को हमारे मुसलमान भाई किसी समय पहले शायद गँवार समझते रहे हों, पर अब तो वे गँवार नहीं समझे जाते। अतएव आपको भी अब अपने पुराने विचार बदल डालने चाहिए। पुराने ज़माने में गँवार ही यह लिपि न लिखते थे, संस्कृत के बड़े बड़े पण्डित भी लिखते थे। वे गाँवों में भले ही रहते थे, पर अब भी तो सैकड़ों, हज़ारों विद्वान् सदा नहीं तो कुछ समय तक गाँवों में रहते हैं। इससे वे गँवार नहीं हो जाते। जिस लिपि में गोखले, भाण्डारकर, तिलक और मालवीय अपने विचार व्यक्त करें वह गँवारों की लिपि नहीं।

(घ) मुसलमान अत्यन्त क्लिष्ट अँगरेज़ी भाषा पढ़कर पण्डित हो सकते हैं; पर संस्कृत-शब्द-प्रचुर हिन्दी समझ लेना उनके लिए कठिन काम है! वे फ्रेंच पढ़ लेंगे, बङ्गाल में रह कर बँगला जान लेंगे, महाराष्ट्र-प्रान्त में रह कर मराठी सीख लेंगे। पर हिन्दी उनके लिए हिब्रू है! डाक्टर ग्रियर्सन, मिस्टर विन्सेन्ट स्मिथ, मिस्टर ड्यूहर्स्ट, मिस्टर ग्राउज़, मिस्टर पिनकाट, मिस्टर ओलढम आदि अँगरेज़ हिन्दी के ज्ञाता हो सकते हैं, पर हमारे मुसलमान भाई नहीं! नवाब साहब ही ऐसी बात मुँह से निकाल सकते हैं। उनकी इस असमर्थता पर दया आती है और ऐसे कथन पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। ख़ैर, आपको यदि हिन्दी अँगरेज़ी से भी अधिक कठिन मालूम होती है तो न पढ़िए। हम आपकी भाषा खुशी

पढ़ेंगे। आप इतनी ही उदारता दिखाइए कि हिन्दुओं के सुभीते के लिए उन्हें उसे पढ़ने और उसका प्रचार करने दीजिए।

(ङ) हिन्दी लिखनेवाले यदि उसे आसानी से नहीं पढ़ सकते या देर से लिख-पढ़ सकते हैं तो आपकी बला से। आपसे, और आप जिनके प्रतिनिधि हैं उनसे, तो कोई उसे लिखाने-पढ़ाने की चेष्टा करता नहीं। आप उर्दू-भाषा और फ़ारसी-लिपि ख़ुशी से लिखिए पढ़िए। कृपा इतनी ही कीजिए कि औरोंके मार्ग में कांटे न बखेरिए। जिन प्रान्तों में हिन्दी प्रचलित है वहाँ कोई काम कभी रुका नहीं और न किसीको हिन्दी लिखने-पढ़ने में कुछ कठिनता ही हुई। आपके इस आक्षेप का खण्डन विहार और मध्यप्रदेश की सैकड़ों कचहरियाँ कर रही हैं।

माननीय बर्न साहब की (च), (छ) और (ज) दलीलों के उत्तर में हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि दस्तावेज़ों कम पेश की जाती हैं या ज़ियादह, इस पर पण्डित तारादत्त गैरोला की "स्पीच" आप सुन ही चुके हैं। पर इससे क्या बहस? जब गवर्नमेंट ने यह नियम कर दिया कि अर्ज़ीदावे देवनागरी-लिपि में भी दिये जा सकते हैं तब मुन्सिफ़ों और जजों के लिए उस लिपि का जानना लाज़मी हो गया। कल्पना कीजिए, किसी मुन्सिफ़ के यहाँ दायर किये गये किसी मुक़द्दमे में कोई ऐसी दस्तावेज़ पेश की गई जिसकी निसबत कुछ झगड़ा है—जिसका कुछ अंश एक पक्ष एक तरह पढ़ता

है, दूसरा पक्ष दूसरी तरह । ऐसी दशा में यदि मुन्सिफ़ वह लिपि जानता होगा तो उस मुक़द्दमे का फैसिला करने में उसे विशेष सुभीता होगा या नहीं।

हाईकोर्ट के किसी जज और किसी बारिस्टर की बात पर विचार करने के पहले यह जानना होगा कि वह हिन्दी जानता भी है या नहीं ; यदि वह स्वयं ही उससे अपरिचित है तो उसकी राय की क़ीमत ही कितनी! जिस इलाहाबाद से हिन्दी के एक नहीं कई पत्र और पत्रिकायें निकलती हैं और जहां स्त्रियां तक उनका सम्पादन करती हैं वहीं हिन्दी के दस्तावेज़ पढ़नेवाला एक भी आदमी न मिला! किमाश्चर्य्यमतः परम्! उन दस्तावेज़ों की लिपि मुँड़िया या विकृत कैथी रही होगी, देवनागरी नहीं। मुंड़िया, कैथी या विकृत हिन्दी से तो इस प्रस्ताव का कुछ सम्बन्ध ही नहीं।

बहुत ही कम अर्ज़ीनवीस, वकील और मुख़तार देवनागरी लिख सकते हैं; यह आपने बहुत ठीक कहा। पर इससे प्रस्ताव की आवश्यकता पूर्ववत् ही बनी रही। अच्छा, जो देवनागरी लिख सकते हैं उन्होंने यदि महीने में दो एक अर्ज़ियां उस लिपि में लिख डालीं और पेशकार तथा जज दोनों उस लिपि से अनभिज्ञ हुए तो? तो फिर यही होगा न - "जाव, उर्दू में लिखा लावो"। परन्तु यह प्रजा के सुभीते की बात न होगी। माननीय मिस्टर रज़ाअली ने तो अपने साथी अन्य विरोधियों को भी मात कर दिया—

(ऋ) आप फ्रेञ्च सीखेंगे, रशियन सीखेंगे, इटालियन

सीखेंगे; पर हिन्दी न सीखेंगे और किसीको सीखने भी न देंगे। आपकी इस अनुदारता पर आपके सभी समझदार सजातियों को दुःख हुए बिना न रहेगा, क्योंकि—

चुँ अज़ क़ौमे यके बेदानिशी कर्द।
न केहरा मंज़िलत मानद न मेहरा॥

आपके इस उप-प्रस्ताव से दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो हिन्दी से आपकी उत्कट घृणा, दूसरी अपनी भाषा उर्दू पर उत्कट प्रीति। हिन्दी से घृणा का कारण शायद यह होगा कि आप हिन्दी को उर्दू की विरोधिनी और उर्दू को अपदस्थ करने की चेष्टा करनेवाली समझते हैं। पर यह आपका भ्रम है। हम आपकी इस घृणा-व्यञ्जक प्रवृत्ति की नकल नहीं करना चाहते। हम ज्ञान-प्राप्ति के लिए, व्यवहार-निर्व्वाह के लिए, मनोरञ्जन के लिए और आपकी धार्मिक पुस्तकों के परिशीलन से लाभ उठाने के लिए उर्दू ही नहीं, अरबी और फ़ारसी तक, समय, सदिच्छा और सुभीता होने पर, अवश्य पढ़ेंगे। जिन मुसलमान भाइयों के साथ हम आज कोई ८०० वर्षों से रहते हैं और जिनका और हमारा चोलीदामन का साथ है उनकी भाषा से घृणा करना मनुष्यत्व-सूचक नहीं। आप लोग हिन्दी न पढ़ें, हम आपकी भाषा और आपकी लिपि का ज्ञान प्राप्त करने में ज़रा भी अनुदारता से काम न लेंगे। परन्तु हम एक बात अवश्य करेंगे। अपनी भाषापर आपकी जो उत्कट भक्ति है उससे हम सबक़ अवश्य सीखेंगे। हम आज से हिन्दी पर उसी तरह भक्ति करेंगे जिस तरह आप उर्दू पर

करते हैं। अतएव जो लोग आज तक केवल उर्दू ही के कीड़े बने हुए हैं उन्हें अब से हिन्दी भी सीखनी चाहिए। हमें यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हमारे बच्चे स्कूलों, पाठशालाओं और घरों पर सबसे पहले हिन्दी ही सीखेंगे। जो लोग उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि में अख़बार और मासिक पुस्तकें निकालते हैं उन्हें हज़ार प्रयत्न करके हिन्दी भी सीखनी चाहिए और यदि सुभीता और सम्भव हो तो अपना कारोबार चलाने के लिए हिन्दी का ही आश्रय लेना चाहिए। जिनको अपनी मातृभाषा और अपनी पवित्र लिपि का ज़रा भी अभिमान है उनको माननीय महोदय की मातृ-भाषा-भक्ति का अवश्य ही अनुकरण करना चाहिए। यदि हम अब भी उनसे यह गुण न सीखेंगे तो कभी न सीखेंगे।

(ञ) हिन्दी सचमुच ही कोई भाषा नहीं! १९०० या १८९८ ईस्वी के पहले के किसी भी सरकारी कागज़ में सरकार ने उसे कहीं भाषा नहीं माना! जब से इस सूबे में शिक्षा-विभाग बना और जब से स्कूल, कालेज और मदरसे खुले तब से जो हिन्दी और उर्दू की पढ़ाई का अलग अलग प्रबन्ध है वह सब माया-प्रपञ्च है! १९०० के पचीस तीस वर्ष पहले ही पदार्थ-विज्ञान-विटप, जीव-विज्ञान-विटप, सरल त्रिकोणमिति, भाषा-काव्यसंग्रह, अवधदेशीय भूगोल, भारतवर्षीय इतिहास आदि हिन्दी की जो सैकड़ों पुस्तकें गवर्नमेंट के स्कूलों में पढ़ाई जाती थीं, वह सब ऐन्द्रजालिक खेल था! पण्डित वंशीधर वाजपेयी ने कोई ५० वर्ष पहले

स्कूलों में पढ़ाई जाने के लिए जो भोजप्रबन्धसार, गणितपाटो आदि कोड़ियों पुस्तकें प्रकाशित की थीं और जो बहुत समय तक जारी भी रही थीं वह भी सब स्वप्न की सम्पत्ति थी! गवर्नमेंट के काग़ज़पत्रों में फिर भला हिन्दी का नाम!

(ट) हिन्दी बोलनेवालों की संख्या का ठीक ठीक हाल मरदुमशुमारी के सुपरिन्टेन्डेन्ट ब्लंट साहब को भी नहीं मालूम, शुमार-कुनिन्दों को भी नहीं मालूम, हिन्दी बोलनेवाले हिन्दू-मुसलमानों को भी नहीं मालूम। और मालूम हो कैसे सकता है! हिन्दी कोई भाषा भी हो! छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, देहाती-शहराती सभी तो उर्दू बोलते हैं! फिर गिनती का झंझट कैसा!

माननीय वज़ीर हसन महाशय को सन्देह है कि रामायण की भाषा आज कल लोग नहीं बोलते। अतएव यदि वह हिन्दी मानी जाय तो वैसी हिन्दी आजकल प्रचलित नहीं। पर शेक्सपियर, बेकन और चासर की अँगरेज़ी आजकल ज़रूर बोली जाती है; इसीसे अंगरेज़ी का प्रचार है। और उर्दू! अजी वह तो जब से पैदा हुई वैसी ही है। वली और आबरू, शाह हातिम और ख़ान आरज़ू जैसी उर्दू लिखते और बोलते थे वैसी ही आज भी तो लिखी और बोली जाती है! मिलान कर लीजिये। वली का कहना है—

बेवफ़ाई न कर ख़ुदा सों डर
जग-हँसाई न कर ख़ुदा सों डर

आबेहयात, संस्करण १८६६

कहिए, ऐसी ही उर्दू आजकल के शिक्षित मुसलमान बोलते और लिखते हैं न ? और यही स्कूलों, कालेजों और कचहरियों में लिखी और बोली जाती है न ? इसीसे इसका प्रचार भी है। क्योंकि आज कोई १०० वर्षों से वह टस से मस हुई ही नहीं। और हिन्दी ? वह तो बदल गई है ! रामायण की भाषा कुछ और है और आजकल की कुछ और। रामायण की भाषा आजकल कोई नहीं बोलता। हां, उर्दू की भाषा अलबत्ते सब लोग बोलते हैं ! इस कारण वही सब के आदर की चीज़ होनी चाहिए।

अस्तु; ये तो प्रस्ताव के विरोधियों की असङ्गत और अप्रासङ्गिक दलीलों के थोड़े में उत्तर हुए। थोड़े में इस लिए कि इस विषय पर एक पुस्तक लिखी जाने की ज़रूरत है। पुस्तक में इस विषय का सविस्तर विवेचन होना चाहिए और उसका एक उर्दू-संस्करण भी निकलना चाहिए। क्योंकि हिन्दी हमारे मुसलमान भाई पढ़ेंगे नहीं। और अपनी बातें हम उन्हें सुनाना ज़रूर चाहते हैं। सो, इसलिए कि उनकी भाषा उर्दू से हमारा तिलमात्र भी विरोध नहीं। हज़ारों, लाखों हिन्दू उसे अब भी लिखते पढ़ते हैं और आगे भी लिखते पढ़ते रहेंगे। हमारी प्रार्थना केवल इतनी ही है कि हिन्दी हमारे घर की भाषा है। देवनागरी-लिपि हमारे धर्म्म-कर्म्म की पुस्तकों की लिपि है। अधिकांश लोग यही भाषा और यही लिपि जानते हैं। उनके सुभीते के लिए अपनी उर्दू के पास बेचारी गँवारू हिन्दी को भी बैठ जाने दीजिए। उर्दू अपने अधिकार पर आनन्द से

आरूढ़ रहे । हिन्दी को केवल इतनी अनुमति दी जाय कि यदि कोई भूला भटका उसके पास तक पहुँचे तो वह उसकी सहायता कर सके । बस।

यदि हम लोग अपना कर्तव्यपालन करें तो इस काम के लिए न किसीसे कुछ कहने की आवश्यकता, न कोई प्रस्ताव उपस्थित करने की आवश्यकता, और न कोई "डेपूटेशन" लेजाने की आवश्यकता. यदि हिन्दी के हितैषी यह प्रतिज्ञा करलें कि पहले अपने बच्चों को हिन्दी पढ़ावेंगे, फिर और कोई भाषा; यदि मामले-मुक़द्दमेवाले यह प्रतिज्ञा कर लें कि अर्ज़ी देंगे तो और दस्तावेज़ लिखेंगे तो देवनागरी-लिपि में, तो बिना कुछ और कार्रवाई किये ही सरकारी मैन्युअल में भी उचित फेरफार हो जाय, मंसिफ़ और सब-जज भी हिन्दी जानने लगें और उर्दू के दास वकील-मुख़तार भी उसे सीखलें। जब पेट दबता है तब आराम, आत्माभिमान और अनुदारता सभी कुछ दब जाता है । पचास मुवक्किलों में से यदि २५ भी डांट कर वकील साहब से कह दें कि हमारा काम हिन्दी (देवनागरी) में कीजिए, नहीं हम और वकील ढूँढ़ लेंगे तो देखिए फिर वे कैसे हिन्दी नहीं सीखते । ये लोग ३० रुपये का मोटर-ड्राइवर और १५ रुपये का कोचमैन खुशी से रक्खेंगे; पर अपने देश, अपनी भाषा और अपने भाइयों के सुभीते के लिए १०) रुपये पर एक हिन्दीदाँ मुहार्रर न रक्खेंगे ! इसका इलाज हमारे ही हाथ में है। और, अब समय आ

गया है कि इस इलाज से काम लिया जाय । सरकार के भाव अनुदार नहीं । पर कोई नया काम करने के पहले वह उसकी आवश्यकता की जांच अवश्य कर लेती है। यदि वह उसकी आवश्यकता की क़ायल हो गई तो कर डालती है। इस दशा में भाषा और लिपि से सम्बन्ध रखनेवाले जो सुभीते हम चाहते हैं उनका होना, परोक्षभाव से, हमारे ही प्रण, परिश्रम और प्रयत्न पर अवलम्बित है।

[अप्रेल १९१७

—:०:—

९—भारतीय भाषायें और अँगरेज़

अँगरेज़ लोग इस बात पर अक्सर दिल्लगी उड़ाया करते हैं कि हिन्दुस्तानियों को अच्छी अँगरेज़ी लिखना और बोलना नहीं आता। अँगरेज़ी अख़बारों में बहुधा "बाबू इँगलिश" अर्थात् बाबू लोगों की अँगरेज़ी की दिल्लगी रहती है। अँगरेज़ी के समान अपूर्ण, अनियमित और उच्चारण-नियम-हीन विदेशी भाषा में यदि इस देशवाले अँगरेज़ों ही की वैसी विज्ञता न प्राप्त कर सकें तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि अँगरेज़ों में आज तक हिन्दी भाषा का एक भी अच्छा विद्वान् नहीं हुआ। जो विद्वान् माने जाते हैं वे भी हिन्दी लिखते घबराते हैं। अँगरेज़ों का इस देश से सम्बन्ध हुए दो सौ वर्ष होगये। परन्तु इतने दिनों में कितने अँगरेज़ों ने हिन्दुस्तानी भाषा में ख़ूब लिख पढ़ लेने लायक़ विज्ञता प्राप्त की? जेता को विजित की भाषा का अच्छा ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। उसके बिना प्रजा के आन्तरिक भाव राजा अच्छी तरह नहीं जान सकता।

अँगरेज़ी भाषा बहुत क्लिष्ट है। उसका व्याकरण और उच्चारण बिलकुल ही वाहियात और अनियमित है। तिस पर भी सैकड़ों हिन्दुस्तानी विद्वानों ने अँगरेज़ी में बड़ी बड़ी

किताबें लिखी हैं। उनको देख कर अँगरेज़ विद्वान् तक चकित होते हैं। स्त्रियों तक ने बड़ी बड़ी किताबें अँगरेज़ी में लिख डाली हैं। इस समय कितने ही हिन्दुस्तानी विद्वान् अँगरेज़ी में अख़बारों का सम्पादन बड़ी ही योग्यता से कर रहे हैं। और कौंसिल में बैठ कर अपनी अँगरेज़ी वक्तृताओं से अँगरेज़ श्रोताओं को आश्चर्य में डाल रहे हैं। अँगरेज़ों की विलायत तक में हिन्दुस्तानियों ने वक्तृताओं की धूम मचा दी है। सैकड़ों अँगरेज़ों के साथ परीक्षा में बैठ कर कितने ही हिन्दुस्तानी अँगरेज़ों को हर साल नीचा दिखा रहे हैं। परन्तु कितने साहब ऐसे हैं जो हिन्दुस्तान की भाषाओं में अख़बार या पुस्तकें लिखते हों या पढ़े लिखे हिन्दुस्तानियों के सामने व्याख्यान देते हों? यदि देश भर में कहीं एक दो हों भी तो वे न होने के बराबर हैं। बीम्स, हार्नली और ग्राउन साहब आदि हिन्दी के बहुत बड़े जाननेवाले माने जाते हैं। परन्तु हिन्दी में उन्होंने कितनी किताबें लिखी हैं? जो कुछ हिन्दी के विषय में उन्होंने लिखा है प्रायः सभी अँगरेज़ी में।

मोक्षमूलर, वेबर, रोट, बूलर, पिटर्सन, कीलहार्न, विलसन और विलियम्स संस्कृत के आचार्य समझे जाते हैं। पर आप लोगों के कलम से निकली हुई संस्कृत की पुस्तकें शायद ही किसीने देखी हो। हां, संस्कृत की पुस्तकों का सम्पादन इन लोगों ने धड़ाके से किया है और आलोचना प्रत्यालोचना के रूप में संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी किताबें अँगरेज़ी में खूब

लिखी हैं। पूर्वोक्त साहबों में से एक साहब अपनी संस्कृत-विद्वत्ता के लिए बेतरह मशहूर थे। वे बहुत दिनों बाद एक दफे बम्बई आये। बम्बई के पण्डितों ने उनको एक अभिनन्दन-पत्र संस्कृत में सुनाया। जब साहब उत्तर देने को खड़े हुए तब लोगों की आशा आसमान छूने लगी। उन्होंने समझा अब धाराबाहिनी संस्कृत भाषा सुनने को मिलेगी। परन्तु साहब लगे कर्णकटु अँगरेज़ी शब्दों से अभिनन्दन-कर्त्ताओं के कान कोंचने। इसपर उन्हें बेहद निराशा हुई। इसी तरह अरबी जानने में अरबवालों के भी कान काटनेवाले एक अँगरेज को उस साल, मुसलमानों ने, नागपुर में या कहीं और अरबी में एक प्रशंसापूर्ण लेख सुनाया, पर जबाब में इस अरबी के भी प्रचण्ड पण्डित ने अँगरेज़ी ही बूकी। एक साहब ने फारसी में सबसे ऊँचे दरजे का इम्तिहान पास किया था। विकट फारसीदाँ होने के कारण एक वार वे फारिस भेजे गये। वहाँ आपको एक निहायत ही अजीब बात मालूम हुई। आपने देखा कि फारिस में आपके कदम पड़ते ही फारसवाले फारसी बोलना ही भूल गये।

यदि और लोग हिन्दुस्तानी भाषा न सीखें तो न सही, पर जिन अफसरों को हिन्दुस्तानियों से दिन रात काम पड़ता है उन्हें तो जरूर ही सीखना चाहिए, विशेष करके ज़िले के हाकिमों को। उन्हें हिन्दी में उच्च परीक्षा पास करने पर हज़ारों रुपये इनाम भी मिलता है। तिस पर

भी यह दशा! एक बार कलकत्ते के किसी अँगरेज़ी अखबार में हमने पढ़ा कि उसी तरफ़ किसी ज़िले के एक मैजिस्ट्रेट साहब अपने इजलास में बैठे हुए एक मुक़द्दमा सुन रहे थे। उस समय मुक़द्दमेवालों में से किसीने कहा कि "इस ज़मीन पर मेरा चिर दिन (बहुत रोज़) से कब्जा है"। साहब ने समझा चिर दिन किसी आदमी का नाम है। इससे आपने चिर दिन के हाज़िर किये जाने का हुक्म दिया। ऐसी ऐसी बातें कहीं न कहीं प्राय: रोज़ ही हुआ करती हैं। अतएव साहब लोगों को चाहिए कि ज़रा अपनी तरफ़ एक नज़र देख कर तब बाबुओं की अँगरेज़ी पर हँसें। बाबू लोगों की अँगरेज़ी उस हिन्दी से हज़ार दर्जे अच्छी होती है जो साहब लोग अपने दरज़ी, भिस्ती, बहरा और खानसामा से बोलते हैं।

लेफ़्टिनेंट कर्नल डब्ल्यू० एच० स्लीमन ने इस देश के सम्बन्ध में कई किताबें लिखी हैं। उन्नीसवें शतक के आरम्भ में आप इस देश में थे। फ़ौजी महकमे में भी आपने बहुत दिनों तक काम किया और मुल्की में भी। कई ज़िलों में आप ज़िले के प्रधान हाकिम के पद पर रहे। १८३५ ईस्वी में आप जबलपुर में थे। वहां से छुट्टी ले कर आप आबोहवा बदलने हिमालय की तरफ़ गये। और इस सफ़र से सम्बन्ध रखनेवाली बातों पर आपने दो जिल्दों में एक किताब लिखी। उसे आपने अपनी बहन को समर्पण किया है। उसके एक अध्याय में आपने अँगरेज़ों के हिन्दी न जानने के कई उदाहरण दिये हैं। उदाहरण

बहुत मज़ेदार हैं। जिस अध्याय में ये उदाहरण हैं उसमें और भी दो एक बातें जानने लायक हैं। इससे हम उनको यहां लिखना चाहते हैं। अच्छा, तो, अब, इसके आगे, जो बातें हम सुनाना चाहते हैं वे स्लीमन साहब ही के मुँह से सुनिए।

एक दिन आगरे में पादरी ग्रगरी ने हम लोगों के साथ खाना खाया। मेजर गाड बाई ने उनसे पूछा—कहिए हमारे धर्म्म ने यहां कितनी उन्नति की?

पादरी साहब ने कहा उन्नति! उन्नति की आशा करना बहुत दूर की बात है। अजी, यहां तो ईसा की करामातें बयान करना शुरू करते ही इस देशवाले कृष्ण की उनसे भी सौगुनी अधिक अद्भुत करामातें उल्टा हमें सुनाने लगते हैं। वे कहते हैं कि हमारे कृष्ण ने गोबर्धन पहाड़ को छाते की तरह अपनी उँगली पर उठा लिया और जब तक पानी बरसता रहा उसे वैसे ही उठाये रहे। यदि कोई पादरी हिन्दुओं से यह कहे कि हमारे सेंटपाल नामक साधु ने कारिंथवालों के किसी धर्म-विषयक सन्देह को दूर करने के लिए आसमान से सूर्य और चन्द्रमा को ज़मीन पर उतार लिया और काम हो जाने पर गेंद के समान उछाल कर उनको फिर अपनी अपनी जगह पर बिना चोट लगे पहुँचा दिया तो सब लोग खुशी से उस की बात पर विश्वास कर लेंगे। पर हां, यह सुन कर एक बात वे करेंगे। गोपियों का दिल बहलाने के लिए या और किसी कारण से कृष्ण की उससे भी अधिक अद्भुत और अलौकिक करामातों को वे सच्चे विश्वास से बयान करेंगे।

इस समय देहली के तख़्त पर अकबर शाह नंबर २ है अकबरशाह के भाई के बड़े बेटे का नाम सुलेमाँ शिकोह है। आगरे में उनके बड़े बेटे मिर्ज़ा काम बख़्श से मेरी मुलाकात हुई। योरपवालों में जिनका तजुरबा सबसे अधिक है वे भी ऊँचे दरजे के मुसलमानों के साथ अच्छी तरह बातचीत नहीं कर सकते। एक पढ़ा लिखा अच्छे घर का मुसलमान टालमी की ज्योतिष विद्या का ज्ञान रखता है, अरिस्टाटल और प्लेटो के न्याय शास्त्र और दर्शन शास्त्र से परिचय रखता है, और योरप के कितने ही प्रसिद्ध प्रसिद्ध पण्डितों की किताबों की बातों को जानता है। क्योंकि उसने इन सब विषयों को अरबी और फ़ारसी में पढ़ा है। तत्वविद्या, साहित्य, विज्ञान और कलाकौशल सम्बन्धी बातों में उसे अच्छा ज्ञान रहता है और वह घण्टों इन विषयों पर बातचीत कर सकता है। हमलोग इन बातों को अपनी भाषा में चाहे जितनी योग्यता से कर सकें, पर हिन्दुस्तानियों के साथ उनकी भाषा में बातें करना हमारे लिए इस समय बिलकुल ही असम्भव है। हम उनकी भाषा नहीं जानते और उसे अच्छी तरह नहीं बोल सकते। जितना मैं हिन्दुस्तानियों के बीच में रहा हूं और मैंने उनके साथ जितना अधिक वार्तालाप किया है उतना और किसी अँगरेज़ ने न किया होगा। पर जब मैं इस मुल्क में पढ़े लिखे आदमियों के साथ और और मुल्कों की राजपद्धति के विषय में बातचीत करता हूं तब मुझे अपनी भाषा-सम्बन्धिनी अयोग्यता पर बेहद

अफसोस होता है। इसके सिवा विद्या, विज्ञान और कला कौशल आदि विषयों पर जब मैं बातचीत करता हूं तब भी मुझे रंज होता है। मैं इस काम के लिए भी अपने को योग्य नहीं पाता हूं। मुझे आशा है कि यदि मेरे पास अपने ख़यालात ज़ाहिर करने के लिए काफ़ी शब्द हों तो मैं इन विषयों पर जो कुछ कहूं उसे यहां के लोग अच्छी तरह समझलें। पर क्या करूं, मेरे पास इनकी भाषा के उतने शब्द ही नहीं हैं। यह न समझना कि इन लोगों की भाषा में सब तरह के खयालात ज़ाहिर करने के लिए शब्द ही नहीं हैं। शब्द ज़रूर हैं, पर मैं उनको जानता ही नहीं और न मैंने आज तक किसी ऐसे योरप-निवासी को देखा जो उन सबको जानता हो। जिन लोगों की पैदायश यहीं की है उनके पास शब्द तो अक्सर मतलब-के लिए काफ़ी होते हैं, पर उन बेचारों के पास खयालात की कमी रहती है। शब्द हैं तो खयालात नहीं, और खयालात हैं तो शब्द नहीं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारे देशवासी इस मुल्क में उन लोगों से अच्छी तरह नहीं मिलते जुलते, जिनके सामने इन सब विषयों पर, अज्ञानता ज़ाहिर करने में हमें शरम मालूम होनी चाहिए, बस यही भेद है। इसे सब लोग जानते हैं और मानते भी हैं।

इस देश के रहनेवाले जो हमारे कर्मचारी हैं उनको असभ्य और ग्राम्य भाषा में हुक्म देते हमें शरम नहीं आती

फ़ौजी अफ़सरों को सिर्फ हथियार और क़वायद इत्यादि के विषय में अपने सिपाहियों और नोकरों से बातचीत करनी पड़ती है। और महकमेवालों को विशेष करके अपने ही अपने महकमे या खेल तमाशे के विषय में कहना सुनना पड़ता है। अपने मतलब को किसी तरह ज़ाहिर कर देना ही वे अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं।

ये लोग इस बात की तिनके के बराबर भी परवा नहीं करते कि ये किस तरह की भाषा बोलते हैं। सुनकर तअज्जुब होगा, पर मैं सच कहता हूं, मैंने बड़े बड़े साहब लोगों को राजा महाराजों तक से ऐसी भाषा बोलते सुना है जिसे सिवा उनके, आदमी के आकार का और कोई जीव, न समझ सकता। पर ये लोग इस कारण न तो रत्ती भर घबराते हैं और न शरमिन्दा ही होते हैं। हमें चाहिए कि या तो हम उनकी भाषा सीखें या अपनी भाषा उन्हें सिखावें। इस देशवालों को खुश करने और अपना पक्षपाती बनाने के लिए इस बात की बड़ी ज़रूरत है। इनका और हमारा परस्पर में मेल चाहे भले ही हो जाय, पर जो बातें इनमें बुरी हैं वे उस तरह की भाषा में बातचीत करने से हरगिज़ नहीं सुधर सकतीं, जिस तरह की भाषा आजकल योरपवाले यहां बोलते हैं। जब तक हम लोग परस्पर एक दूसरेको भाषा न बोल सकेंगे तब तक न्यायाधीश के आसन पर अथवा कौं-सिल के दीवानखाने के भीतर, अथवा बारिस्टरों और वकीलों की कुर्सी पर हम कभी एक दूसरेकी बराबरी न कर सकेंगे।

स्लीमन सहाब के वक्तव्य को हम यहीं समाप्त करते हैं। इस देशवालों के साथ बातचीत करने में योरपवाले जैसी हास्य-जनक गलतियाँ करते हैं उसके कई नमूने स्लीमन साहब ने अपनी किताब में दिये हैं। परन्तु उन्हें हम यहां पर नहीं देते। टेलर, ह्वीलर और फीलर साहब की दिल्लगी उड़ाने से क्या लाभ ?

[जनवरी १९०८



१०-मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में हिन्दी उर्दू ।

१९११ ईस्वी की १० मार्च को जो मर्दुमशुमारी हुई थी उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुए एक वर्ष हो गया। इस रिपोर्ट से मतलब संयुक्त प्रान्त की रिपोर्ट से है। यह दो भागों में विभक्त है। अर्थात् इसकी दो जिल्दें हैं। पहली जिल्द में सिर्फ रिपोर्ट है; दूसरी जिल्द में सिर्फ नक्शे हैं। इन दोनों जिल्दों में सैकड़ों बातें ऐसी हैं जिनका जानना इस प्रान्त में रहने-वालों के लिए बहुत ही ज़रूरी है। समाचारपत्रों और मासिक पुस्तकों के सम्पादकों को इसका अवलोकन ही न करना चाहिए, किन्तु इसका अध्ययन कर के इसमें कही गई बातों पर खूब विचार भी करना चाहिए। धर्म, समाज, शिक्षा, व्यवसाय, तन्दुरुस्ती और भाषाओं से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी कितनी ही बातें इसमें हैं जो हम लोगों के जीवन और मरण से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु एक तो ये रिपोर्ट अँगरेज़ी में हैं, दूसरे इनकी कीमत बहुत है। संयुक्त प्रान्त की मर्दुमशुमारी से सम्ब-न्ध रखनेवाली इन दो जिल्दों ही की कीमत १५) रुपये हैं। इसीसे इन प्रान्तों के हिन्दी-पत्रों में इन पुस्तकों में कही गई बातों की विशेष चर्चा नहीं हुई। अँगरेज़ी के पत्रों में जो कुछ प्रकाशित हुआ है उसीके आधार पर किसी किसी पत्र में कुछ लिख दिया गया है। जब तक गवर्नमेंट इनका खुलासा देशी भाषाओं में न प्रकाशित करेगी और हिन्दी-उर्दू के समाचारपत्रों

को ये रिपोर्टें देने की अधिक उदारता न दिखावेगी तब तक हम लोग इनसे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। जिस सूबे की चार करोड़ अस्सी लाख आबादी में से चार करोड़ सैंतीस लाख आदमी हिन्दी बोलते हैं उस सूबे के सिर्फ़ एक ही हिन्दी पत्र को गवर्नमेंट यह रिपोर्ट देने की कृपा करती है। परन्तु जिसमें सिर्फ़ इकतालीस लाख आदमी उर्दू बोलते हैं उसमें उर्दू के तीन अख़बारों को वह यह रिपोर्ट मुफ़्त दे डालती है। गवर्नमेंट को ऐसा न करना चाहिए। इस विषय में उसे अपनी नीति को, जहाँ तक हो सके, शीघ्र ही बदल देना चाहिए। यह तो हुई इन प्रान्तों की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट की बात। गेट साहब ने सारे हिन्दुस्तान की मर्दुमशुमारी पर जो रिपोर्ट लिखी है वह भी अब प्रकाशित हो गई है। उसे पढ़ना, उसकी महत्व-पूर्ण बातों पर विचार करना और उससे लाभ उठाना हम लोगों के लिए और भी अधिक ज़रूरी है। परन्तु, अफ़सोस है, वह भी हम लोगों के लिए सुलभ नहीं।

आज हम इस नोट में अपने ही प्रान्त की रिपोर्ट की केवल उन बातों पर विचार करते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी भाषा से है। इस रिपोर्ट से एक बात का फ़ैसिला हो गया। वह यह कि जिसे गवर्नमेंट तथा उर्दू के अनेक पक्षपाती हिन्दुस्तानी कहते हैं वह और कुछ नहीं; वह ख़ालिस उर्दू है। लक्षण उसका चाहे जो किया जाय; बिठाई वह उर्दू ही के घर में जाती है। इस रिपोर्ट में पहले तो उर्दू कोई अलग भाषा ही नहीं मानी गई। वह सिर्फ़ हिन्दी की एक शाखा या एक बोली-

विशेष मात्र मानी गई है। परन्तु रिपोर्ट के नक़्शों में उर्दू और हिन्दुस्तानी एक ही ख़ाने में रख दी गई हैं।

मर्दुमशुमारी के सुपरिंटेंडेंट ब्लन्ट साहब ने इन प्रान्तों की भाषाओं के सिर्फ़ चार भाग किये हैं। यथा—

१ पश्चिमी हिन्दी।

२ पूर्वी हिन्दी।

३ बिहारी।

४ पहाड़ी।

पश्चिमी हिन्दी को उन्होंने चार शाखाओं या बोलियों में विभक्त किया है—(१) हिन्दुस्तानी (२) व्रज की बोली (३) कन्नौजिया (४) बुँदेली। पूर्वी हिन्दी के उन्होंने दो ही विभाग किये हैं—(१) अवधी (२) बघेली। अब माननीय मुंशी असग़र अली ख़ाँ साहब कृपा करके देखें कि जिस हिन्दी का अस्तित्व तक वे नहीं क़बूल करते उसी हिन्दी को इन प्रान्तों की गवर्नमेंट यहाँ की प्रधान भाषा मानती है। मुंशी जी की प्यारी उर्दू, या हिन्दुस्तानी, उसकी एक बोली मात्र है। उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी नामों पर ब्लन्ट साहब ने बहुत कुछ बहस की है, और, अन्त में यह सिद्ध किया है कि उर्दू, हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उच्च हिन्दी कोई जुदा भाषायें नहीं। वे एक ही भाषा के रूपान्तर हैं।

अच्छा, अब देखिए, देवनागरी अक्षरों का प्रचार इन प्रान्तों में कितना है और उनके मुक़ाबले में जिन फ़ारसी अक्षरों में उर्दू लिखी जाती है उनका कितना है। फ़ी सैकड़े कितने

मनुष्य देवनागरी लिपि लिखते हैं और कितने फ़ारसी, यह बात नीचे के नक़्शे से अच्छी तरह प्रकट हो जायगी:—

	देवनागरी	फ़ारसी
हिन्दू	८४	१५
मुसलमान	१४	८१
आर्य	५६	३६
जैन	७६	१६
किरानी	३६	५२

देख लीजिए, देवनागरी अक्षरों का कितना व्यापक प्रचार इन प्रान्तों में है। १०० में १४ मुसलमान तक यही अक्षर व्यवहार में लाते हैं। आर्यों, जैनों और हिन्दुओं का तो कहना ही क्या है। सिर्फ़ मुसलमान और देशी किरिस्तान ही फ़ारसी अक्षरों से अधिक काम लेते हैं। पर उनकी संख्या इन प्रान्तों में दाल में नमक के बराबर है। फिर एक बात और भी विचार करने योग्य है। वह यह कि फ़ारसी अक्षरों का सबसे अधिक प्रचार केवल रुहेलखण्ड की कमिश्नरी में है, जहाँ १०० में ५५ आदमी फ़ारसी अक्षर लिखते हैं। इस कमिश्नरी को छोड़ कर और कहीं भी फारसी अक्षर लिखनेवालों की संख्या देवनागरी अक्षर लिखनेवालों से अधिक क्या, उनके बराबर भी नहीं। कमाऊँ में तो फ़ी सदी ७ आदमी भी फ़ारसी अक्षर नहीं लिखते। सारे सूबे में ७२ आदमी अगर देवनागरी लिपि लिखते हैं तो सिर्फ २५ फारसी लिपि और ३ अन्य लिपि, इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि इन प्रान्तों में देवनागरी

वर्णमाला ही का प्रचार सबसे अधिक है। अतएव प्रजा के काम की जितनी पुस्तकें गवर्नमेंट देशी भाषाओं में प्रकाशित करती है उन सबको विशेष कर देवनागरी ही अक्षरों में प्रकाशित करना चाहिए।

रिपोर्ट तैयार करनेवाले सुपरिंटेंडेंट साहब न मालूम क्यों उर्दू भाषा और फ़ारसी अक्षरों की तरफ़ कुछ झुके हुए मालूम होते हैं। आपका करना है कि यद्यपि देवनागरी-लिपि ही को इन प्रान्तों के निवासी अधिक पसन्द करते हैं, तथापि जो आदमी फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियां जानते हैं वे नागरी की अपेक्षा फ़ारसी लिपि में अधिक योग्यता रखते हैं। आप कहते है कि नागरी और फ़ारसी लिपि जाननेवालों में ५६ आदमी फ़ी सदी ऐसे हैं जो देव-नागरी की अपेक्षा फ़ारसी लिपि अधिक अच्छी लिख सकते हैं। इस हिसाब से फ़ारसी लिपि की अपेक्षा नागरी विशेष अच्छी तरह लिख सकनेवालों की संख्या फ़ी सदी ४४ ही हुई। इससे शायद आप यह अर्थ निकालना चाहते हैं कि जो लोग दोनों लिपियाँ जानते हैं वे फ़ारसी लिपि को विशेष महत्व की लिपि समझ कर उसीमें विशेष अभ्यास करते हैं। यदि आपका यही आशय हो तो हमारी राय में आपने भूल की है। हम तो यह समझते हैं कि जिन लोगों ने लड़कपन ही से उर्दू पढ़ी है और फ़ारसी लिपि का व्यवहार किया है उन लोगों ने भी अब पीछे से देवनागरी लिपि सीख ली है। परन्तु वे इस लिपि में

इतने प्रवीण नहीं हुए जितने कि वे अपनी आजन्म अभ्यस्त फ़ारसी लिपि लिखने में हैं। यही कारण है जो दोनों लिपियाँ जाननेवालों में फ़ारसी लिपि अधिक अच्छी तरह जानने-वालों का औसत अधिक है। इससे तो देवनागरी लिपि के प्रचाराधिक्य ही का सबूत मिलता है। कचहरियों में जो लोग शुरू ही से फ़ारसी लिपि में काम करते आ रहे हैं उन्हें देवनागरी भी सीखने की आशा है। यह इसी आशा का फल है जो वे नागरीलिपि सीख गये हैं, पर उसमें वे इतने अभ्यस्त नहीं जितने कि फ़ारसी लिपि में हैं।

उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का प्रचार बढ़ने के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। इस बात को ब्लन्ट साहब भी स्वीकार करते हैं। आपने क़बूल किया है कि उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का जो प्रचार इन प्रान्तों में है उसका कारण उनका कचहरियों में जारी होना है। कचहरी के कर्मचारी अर्ज़ीनवीस, मुख़्तार और वकीलों के मुहर्रिर लड़कपन से यही भाषा और यही लिपि लिखते आते हैं। यही लोग इस भाषा और इस लिपि के विशेष प्रेमी हैं। पर ये लोग भी अब हिन्दी सीखते जाते हैं, और, आशा है, अगली मर्दुमशुमारी में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचारा-धिक्य के और भी अधिक प्रमाण मिलेंगे।

मर्दुमशुमारी के सुपरिंटेंडेंट ब्लन्ट साहब की शिकायत है कि हम लोग संस्कृत के अपरिचित और अनावश्यक शब्द

हिन्दी में लिख लिख कर उसे देतरह क्लिष्ट बना देते हैं। संस्कृत-शब्द जिसमें अधिक होते हैं उसे आप उच्च हिन्दी कहते हैं। आपकी राय है कि ऐसी हिन्दी को लोग बिलकुल ही नहीं पसन्द करते और इसकी मौत जितना ही शीघ्र हो जाय उतना ही अच्छा है। आप हिन्दुस्तानी भाषा के बड़े पक्षपाती हैं। आप चाहते हैं कि हिन्दी-उर्दू का झमेला दूर हो जाय एक मात्र हिन्दुस्तानी भाषा ही इन प्रान्तों में रह जाय। क्लिष्ट हिन्दी को आप इस लिए दोष देते हैं कि ऐसी हिन्दी विद्या और ज्ञानवृद्धि में बाधक हो रही है। परन्तु आश्चर्य है, आपने फ़ारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू को ज्ञान और विद्या की वृद्धि का बाधक नहीं समझा। कम से कम इस बाधा का उल्लेख उन्होंने अपनी रिपोर्ट में नहीं किया। बड़ी नरमी से आपने सिर्फ़ इतना ही कह दिया है कि अच्छी शिक्षा पाये हुए मुसलमान और कुछ हिन्दू भी विशेष करके मुसलमान फ़ारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। इसका कारण, आपकी समझ के अनुसार, और कुछ नहीं; केवल बड़े बड़े और क्लिष्ट शब्द प्रयोग करने की पूर्वी देशों में जो चाल पड़ गई है उसीका फल है। अच्छा, तो फिर हिन्दी में संस्कृत के क्लिष्ट शब्द प्रयोग करनेवालों के लिए भी यही बात क्यों न कही जाय? हिन्दी लिखनेवाले क्या पूर्वी देश के रहनेवाले नहीं? रिपोर्ट के लेखक चाहे जो कहें, यदि हिन्दी के कुछ लेखक क्लिष्ट भाषा लिखते हैं तो उर्दू के

भी वैसा ही करते हैं। इस दशा में किसी एक ही पक्ष को अधिक दोषी ठहराना न्यायसंगत नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा सीधी सादी होने ही से लोग उसे अधिक पसन्द करते हैं। अतएव विषय का लिहाज़ रखते हुए यथा-सम्भव सरल ही भाषा लिखना चाहिए।

ब्लन्ट साहब के अनुसार पढ़े लिखे आदमी अधिकतर उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि ही को पसन्द करते हैं। परन्तु आपने उर्दू और हिन्दी के अख़बारों और पुस्तकों की जो तालिका प्रकाशित की है उससे यह बात बिलकुल ही नहीं साबित होती। उससे तो उलटा यह साबित होता है कि देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी बराबर उन्नति करती चली जा रही है और उसकी यह उन्नति उर्दू की उन्नति से बहुत अधिक है। नीचे की तालिका देखिए।

अख़बार और सामयिक पुस्तकें।

साल	उर्दू		हिन्दी	
	अख़बारों आदि की संख्या	कापियों का संख्या	अख़बारों आदि को संख्या	कापियों की संख्या
१८९१	६८	१६२५६	२५	८००२
१९०१	६९	२३७५७	३५	१७४१९
१९११	११६	७६६०८	८६	७७७३१

० वर्ष पहले हमारी जिस क्लिष्ट हिन्दी में सिर्फ़ २५

अख़बार निकलते थे उसमें अब ८६ निकल रहे हैं—अर्थात् उनकी संख्या बढ़ कर कुछ कम चौगुनो हो गई है। परन्तु उर्दू के अख़बारों की संख्या इतने समय में दूनी भी नहीं हुई। २० वर्ष पहले हिन्दी के अख़बारों और सामयिक पुस्तकों की कापियों की संख्या सिर्फ़ आठ हज़ार थी। वह अब सतहत्तर हज़ार से भी अधिक हो गई है। यह बढ़ती १० गुने से कुछ ही कम है। परन्तु इतने ही समय में उर्दू-अख़बारों और सामयिक पुस्तकों की कापियों की संख्या सोलह हज़ार से सिर्फ़ छिहत्तर हज़ार हुई है, अर्थात् वह ५ गुना भी नहीं बढ़ी। सो ब्लन्ट साहब के अनुसार हिन्दी क्लिष्ट होने पर भी दस गुना उन्नति कर गई और उर्दू आमफ़हम होने पर भी, सिर्फ़ ५ गुना! इससे तो यह कदापि नहीं सिद्ध होता कि लोग उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि को अधिक और हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि को कम पसन्द करते हैं।

अब पुस्तकों का भी लेखा देखिए:—

साल	उर्दू	हिन्दी
१९०१	४८८	४२६
१९१०	४३५	८०७

१९०१ में उर्दू की सिर्फ़ ४८८ पुस्तकें निकली थीं। इस संख्या में वृद्धि होना तो दूर रहा, १९१० में घट कर

वह ४३५ ही रह गई। परन्तु हिन्दी की पुस्तकों की संख्या ४२१ से ८०७—अर्थात् दूनी-हो गई। बताइए, क्या इससे यह नहीं सूचित होता कि क्लिष्ट होने पर भी हिन्दी की पुस्तकों की चाह उर्दू की पुस्तकों की अपेक्षा अधिक है? गत ३० वर्षों का समग्र लेखा देखने से तो उर्दू की पुस्तकों के प्रचार की दुर्दशा और हिन्दी की पुस्तकों के प्रचार की उन्नति का चित्रसा सामने दिखाई देने लगता है। उसे भी देख लीजिए:-

	१८८१ से १८९० तक	१८९१ से १९०० तक	१९०१ से १९१० तक
उर्दू	४३८०	४२१८	३५४७
हिन्दी	२७९३	३१८६	५०६३

उर्दू की पुस्तकों की संख्या बराबर घटतीही चली आती है और हिन्दी की पुस्तकों की संख्या बढ़ती ही जाती है। बात यह है कि इन प्रान्तों की प्रधान भाषा हिन्दी ही है, उर्दू नहीं। हिन्दी क्लिष्ट ही सही; फ़ारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू की अपेक्षा वह अधिक क्लिष्ट नहीं। हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि के गुण अब धीरे धीरे लोगों की समझ में आ रहे हैं। इसीसे उनकी वृद्धि हो रही है।

ऊपर दी गई तालिकाओं से यह भी सिद्ध है कि कचहरी के कर्मचारी और आजन्म उर्दू के प्रेमी यदि देवनागरी-लिपि की अपेक्षा फ़ारसी लिपि को अधिक अच्छी तरह लिख सकें

तो : २ से फ़ारसी-लिपि की उत्कृष्टता कदापि नहीं साबित हो सकती। उत्कृष्ट वस्तु को सभी पसन्द करते हैं। यदि फारसी की लिपि उत्कृष्ट होती तो उस लिपि में छपी हुई उर्दू की पुस्तकों का प्रचार अवश्य ही बढ़ता। पर नहीं बढ़ा। अतएव वह उत्कृष्ट नहीं। मुट्ठी भर मुसलमानों और कुछ कायस्थों और काश्मीरियों को छोड़ कर उसका कोई पुरसाँ नहीं।

मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के लेखक महाशय की एक और शिकायत है। वे कहते हैं कि मर्दुमशुमारी के पहले, १६०१ ईस्वी की तरह, इस दफे भी हिन्दी-उर्दू का झगड़ा खड़ा हो गया था। इस झगड़े का यह नतीजा हुआ कि हिन्दी और उर्दू बोलनेवालों की ठीक ठीक संख्या न मालूम हो सकी। मुसलमान कर्मचारियों ने हिन्दी बोलनेवालों को भी उर्दू बोलनेवाला लिख दिया; हिन्दू कर्मचारियों ने ठीक इसका उलटा किया। फल यह हुआ कि दोनों भाषायें या बोलियां बोलनेवालों की संख्या में कमी-बेशी हो गई। यह सब लिख कर आपने राय दी है कि उर्दू बोलनेवालों की संख्या जो इकतालीस लाख दी गई है वह बहुत कम है। उसमें कम से कम एक पञ्चमांश और बढ़ाना चाहिए। अर्थात् आपने यह सूचित किया है कि हिन्दू कर्मचारियों ने उर्दू के साथ कुछ अधिक अन्याय किया। ऐसा कहने का प्रमाण आपके पास अवश्य ही होगा। पर आपने दिया नहीं। अलीगढ़ के उर्दू-प्रेमियों के पक्षपात का उदाहरण आपने अवश्य दिया है और लिखा है कि वहाँवालों ने उर्दू बोलनेवालों की संख्या उस

ज़िले के निवासी मुसलमानों की संख्या से भी बढ़ा दी। उर्दू, हिन्दी की इस कमी-बेशी के सम्बन्ध में एक बात यह भी तो कही जा सकती है। वह यह कि सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी में अनेक हिन्दुओं को, सम्भव है, यह भी ज्ञान न रहा हो कि वे उर्दू बोलते हैं या हिन्दी। इस दशा में, सम्भव है, उन्होंने भूल से अपनी भाषा उर्दू बता दी हो अथवा कर्म-चारियों ही ने उनकी भाषा उर्दू लिख दी हो। १९०१ से १९११ तक हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में जो चर्चा हुई उससे यदि हिन्दुओं को इस दफ़े हिन्दी-उर्दू का भेद मालूम हो गया हो और उन्होंने अपनी भाषा उर्दू के बदले यदि हिन्दी लिखा दी हो तो उर्दू बोलनेवालों की संख्या में कमी होनी ही चाहिए। यह कमी यथार्थ कमी मानी जा सकती है, अयथार्थ नहीं। परन्तु इस बात को इस दृष्टि से रिपोर्ट लेखक ने नहीं देखा। अस्तु।

यदि हम ब्लन्ट साहब ही की बात मान लें और यह स्वीकार कर लें कि उर्दू बोलनेवालों की संख्या ४१ लाख नहीं, किन्तु ५०-६० लाख है, तो भी तो उर्दू का प्रचाराधिक्य नहीं साबित होता। कहाँ चार करोड़ हिन्दी बोलनेवाले और कहाँ साठ लाख उर्दू बोलनेवाले! फ़ी दस हज़ार आदमियों में अगर ९११९ आदमी हिन्दी बोलते हैं तो सिर्फ ८५३ आदमी उर्दू बोलते हैं!!! उर्दू बोलनेवालों की संख्या १५-२० लाख बढ़ा देने पर भी हिन्दी बोलनेवालों की संख्या उर्दू बोलनेवालों की संख्या से सात आठ गुना अधिक रह जाती है। जिस उर्दू के

बोलनेवालों की संख्या इतनी थोड़ी है उन्हींकी भाषा और उन्हींकी लिपि का सरकारी कचहरियों और दफ़तरों में इतना अधिक प्रचार होना प्रजा के सुभीते की बात नहीं मानी जा सकती। सरकार को कृपा करके इसका प्रतीकार करना चाहिए।

एक बात और है। बलन्ट साहब ने पहले तो उर्दू को कोई भाषा नहीं माना; उसे पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा या बोली मात्र स्वीकार किया है। फिर हिन्दुस्तानी भाषा का लक्षण आपने यह बताया है कि जिसमें न फ़ारसी हो के शब्दों की भरमार हो और न संस्कृत ही के—अर्थात् जो भाषा फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सके वही हिन्दुस्तानी है। इसके बाद फ़ारसी शब्दों की अधिकता से परिपूर्ण भाषा का नाम आपने उर्दू और संस्कृत शब्दों से परिपूर्ण भाषा का नाम उच्च हिन्दी बताया है। परन्तु यह सब कर के भी जिस उर्दू को आपने फ़ारसी-मिश्रित भाषा बताया है उसीको हिन्दुस्तानी मान कर उर्दू या हिन्दुस्तानी बोलनेवालों की संख्या एक ही खाने में लिख दी है। आप ही के लिखे हुए लक्षण के अनुसार हिन्दुस्तानी भाषा उर्दू की कक्षा में नहीं शामिल की जा सकती। हिन्दुस्तानी चाहे जिस लिपि में लिखी जाय उसे अलग ही दिखाना चाहिए था। उर्दू के मुक़ाबले की भाषा तो आपके अनुसार संस्कृत-शब्द-पूर्ण हिन्दी हो सकती है। इस दशा में इस प्रकार के लक्षण बता कर भी—उर्दू को हिन्दुस्तानी समझना, अथवा हिन्दु-

स्तानी को उर्दू मान लेना और फिर उनके बोलनेवालों की संख्या एक ही खाने में दिखाना न युक्ति ही से सङ्गत मालूम होता है और न न्याय ही से। आपके लेखानुसार तो हिन्दुस्तानी भाषा उर्दू हो ही नहीं सकती। यदि आपके किये हुए लक्षणों को इन प्रान्तों के लाट साहब भी स्वीकार कर लें तो क़ानून की जो पुस्तकें उन्हों ने देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित कराई हैं उनकी भाषा, जैसा कि उन्होंने कहा है, कदापि हिन्दुस्तानी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह फ़ारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई है। वह तो मर्दुमसुमारी के सुपरिन्टेण्डेन्ट श्रीयुत ई० ए० एच० ब्लन्ट साहब आइ० सी० एस० के लक्षणानुसार ख़ालिस उर्दू है।

[मार्च १९१४

—:*:—

११---उर्दू और "आज़ाद"।

गवर्नमेंट कालेज, लाहौर के भूतपूर्व अरबी-अध्यापक शम्सुल्-उल्मा मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब, आज़ाद ने एक किताब "आबे हयात" नाम की उर्दू में लिखी है। उसमें उर्दू के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों के जोवन-चरित, उनकी कविताओं के चुने हुए नमूने और उर्दू भाषा की यथाक्रम उन्नति आदि का वर्णन है। उर्दू-साहित्य में इस किताब की बड़ी महिमा है और किताब है भी अच्छी। मौलवी साहब ने पक्षपात को बिलकुल छोड़ कर अपने नामा-नुकूल खूब आज़ादी के साथ सब बातों की आलोचना की है। हज़रत आज़ाद फ़ारसी और और उर्दू के महा-वैयाकरण और महा विद्वान् समझे जाते हैं। अतएव उर्दू के विषय में उनकी क्या राय है, यह हम उनकी "आबे-हयात" से दिखलाना चाहते हैं। हम देखते हैं कि कुछ हिन्दी जाननेवालों का आग्रह उर्दू के समान दोषपूर्ण भाषा की लेख-प्रणाली और उसके व्याकरण की तरफ़ मतलब से अधिक बढ़ रहा है। इसीसे हम "आज़ाद" की आज़ादाना राय पाठकों के सामने रखते हैं और इस बात का फैसला हम उन्हींपर छोड़ते हैं कि इस भाषा की लेख-प्रणाली को आदर्श मानना मुनासिब है या नहीं और है तो कहाँ तक।

मौलवी साहब ने अपनी किताब में, प्रस्तुत विषय में, जो कुछ लिखा है उसका कुछ कुछ अंश हम उन्हीं के शब्दों में देते हैं। उचित तो था कि सिर्फ़ हिन्दी जाननेवालों के सुभीते के लिए हम उनकी इबारत को हिन्दी का रूप दे देते। पर ऐसा करना हमने ज़रूरी नहीं समझा! कारण यह है कि उर्दू की इबारत का कुछ अंश वाचकों को यदि न भी समझ पड़े तो विशेष हानि नहीं, पर हिन्दी का रूप देने पर, कहीं कोई यह न समझ बैठे कि हमने मौलवी साहब की राय ठीक तौर पर नहीं प्रकट की; उसमें कुछ भूल हो गई। अभाग्यवश देहली या लखनऊ के महिमामय मौलवी महाशयों की सङ्गति करने का हमें कभी सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इससे, सम्भव है, हम नीचे के अवतरणों में अरबी, फारसी और, तुर्की शब्दों का उच्चारण ठीक ठीक न कर सकें। पर हमें आशा है, हमारे पाठक "हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्" नीति का अनुकरण करते हुए मतलब की बातों को समझ कर हमारे इस दोष को क्षमा करेंगे।

हजरत "आज़द" ने मौके मौके पर उर्दू की तारीफ़ भी की है और जो दोष उसमें हैं उन्हें दिखलाने में उन्होंने कसर भी नहीं की। उनके दिखलाये हुए सिर्फ़ दोषों ही का उल्लेख हम यहां पर इसलिए करते हैं जिसमें हिन्दीवाले उर्दू को अपना आदर्श न समझें और उसके दोषों की नक़ल करने की कोशिश न करें।

उर्दू की अनस्थिरता के विषय में, मौलवी साहब, १८८१ ईस्वी की छपी हुई, अपनी पुस्तक, "आबे-हयात" के तेइसवे पृष्ठ पर लिखते हैं।

"उर्दू इस क़दर जल्द जल्द रंग बदल रही है कि एक मुसन्निफ़ अगर खुद अपनी एक सन की तसनीफ़ को दूसरे सन की तसनीफ़ से मुक़ाबला करे तो ज़ुबान में फ़रक़ पायेगा।

"बावजूद इसके अब तक भी इस काबिल नहीं कि हर किस्म के मज़मून ख़ातिरख़्वाह अदा कर सके या हर इल्म की किताब को बेतकल्लुफ़ तरजुमा कर दे।"

जब उर्दू की यह दशा है तब हिन्दी के लिए वह क्यों आदर्श मानी जाय? हिन्दी को संस्कृत के व्याकरण का यथा-सम्भव अनुकरण करना चाहिए, उर्दू, फारसी के व्याकरण का नहीं। अब पाठक विचार करें कि मौलवी साहब की उर्दू-इबारत का व्याकरण संस्कृत व्याकरण के नियमों के कहां तक अनुकूल है?

कुछ लोगों का ख़याल है कि अरबी, तुर्की और फ़ारसी का कोई शब्द यदि हिन्दी में लिखा जाय तो उसका उच्चारण ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा कि उन भाषाओं में होता है। यह बात भाषा-विज्ञान के नियमों के सर्वथा ख़िलाफ़ है यदि ऐसा हो सकता तो आज संस्कृत और प्राकृत के हज़ारों शब्दों की मिट्टी उर्दू में जो ख़राब हो रही है वह न होती। इस उर्दू ने अरबी, फ़ारसी और तुर्की के भी अनन्त शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अपना सा कर लिया है। ऐसे शब्दों के कितने ही उदा-

हरण मौलवी साहब ने अपनी किताब में दिये हैं। जिस उर्दू ने संस्कृत के गणनातीत शब्दों की दुर्गति कर डाली उसके पक्षपाती यदि कहें कि अगर फ़ारसी, अरबी का कोई शब्द, जो हिन्दी में चलित है, उसमें लिखा जाय तो अपने मूल उच्चारण के अनुसार ही लिखा जाय, तो समझदार आदमी यही कहेंगे कि भाषा-तत्त्व का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं। जो फारसी अरबी जानता है वही ऐसे शब्दों को, मूल भाषा के उच्चारण के अनुसार, ठीक ठीक लिख सकता है; दूसरों के लिए यह बात सम्भव नहीं, अन्य भाषा के शब्द बोलचाल में आने के कारण अपने मूल-रूप से बहुधा कुछ न कुछ गिर ही जाते हैं। इस दशा में, उन शब्दों के लिए विदेशी भाषाओं के कोष का हवाला देना निरी अन्यायपूर्ण और अश्रद्धेय बात है। अन्य भाषाओं के शब्द जब किसी भाषा में आते हैं तब वे जिस रूप में उस भाषा में लिखे जाने लगते हैं वही रूप उनका हो जाता है। उर्दू में संस्कृत, फारसी, अरबी और तुर्की के जो शब्द, बिगड़े हुए रूप में प्रचलित हैं उन्हें अशुद्ध ठहराने की शक्ति किसीमें नहीं। ठीक यही बात हिन्दी भाषा में व्यवहृत विदेशी शब्दों के लिए कही जा सकती है।

मुहाविरे के विषय में "आबे-हयात" की राय सुनिए। उसके पृष्ठ ३०-३१ में लिखा है—

"बाज़ अशख़ास यह भी कहते हैं कि ख़ाली भाषा में कुछ मज़ा नहीं। उर्दू ख़्वाह मख़्वाह तबीयत को भली मालूम होती है। मगर मेरी अक़्ल दोनों बातों में हैरान है। क्योंकि

जब कोई कहे—आज एक शख़्स आया था—या यह कहे कि एक मनुष्य आया था, तो दोनों यकसां हैं। क्योंकर कहूं कि मनुष्य मुख़ालिफ़-तबा है? यह भी तो हो सकता है कि हम बचपन से शख़्स सुनते हैं। इसलिए हमें मनुष्य या मानुस नामानूस (नापसन्द) मालूम होता है। इसी तरह और अलफ़ाज़ हैं जिनकी तादाद शुमार से बाहर हो गई है।

"इससे ज़्यादा तअज्जुब यह है कि बहुत से लफ़्ज़ ख़ुद मतरूक हैं। मगर दूसरे लफ़्ज़ से तरकीब पाकर ऐसे हो जाते हैं कि फ़सहा के मुहाविरे में जान डालते हैं। मसलन् यही मानुस अकेला मुहाविरे में नहीं, मगर सब बोलते हैं कि अहमद ज़ाहिर में तो भलामानुस मालूम होता है बातिन की ख़बर नहीं।

"बन्धु, भाषा में भाई या दोस्त को कहते हैं। अब मुहाविरे में भाई-बन्द कहते हैं। न फ़क़त बन्धु न भाई-बन्धु। और इन इस्तेमालों की तरजीह के लिए दलील किसीके पास नहीं। जो कुछ जिस ज़माने में रवाज हो गया वही फ़सीह हो गया; एक ज़माना आयेगा कि हमारे मुहाविरे को लोग बे-मुहाविरे कह कर हँसेंगे।"

उर्दू, संस्कृत और प्राकृत ही से पैदा हुई है; उसने कितने ही संस्कृत शब्दों को बिगाड़ बिगाड़ कर अपने में मिलाया है, इसपर "आज़ाद" लिखते हैं। उनकी किताब का इकतीसवाँ पृष्ठ देखिए—

"अगरचे यह बात बग़ैर तमसील देखने के भी हर शख़्स के ख़याल में नक़्श है कि संस्कृत और ब्रजभाषा की मिट्टी से उर्दू का पुतला बना है। बाक़ी और ज़ुबानों के अलफ़ाज़ ने ख़त व ख़ाल का काम किया है। मगर मैं चन्द लफ़्ज़ मिसालन लिखता हूं। देखो, संस्कृत अलफ़ाज़ जब उर्दू में आये तो उनकी असलियत ने इनक़िलाब ज़माना के साथ क्योंकर सूरत बदली है।"

इस के आगे संस्कृत शब्दों की एक तालिका है। "उर्दू-बेगम" के लेखक महाशय ने भी खूब समझाया है कि उर्दू प्राकृत ही की बेटी है। अब हमारी प्राकृत-प्रसूत हिन्दी यदि उर्दू-व्याकरण की नक़ल करने चले तो बड़े अफ़सोस की बात है। बड़ी लज्जा की बात है। उर्दू की बदौलत फ़ारसी, अरबी के जो शब्द बोलचाल में आगये हैं उन का प्रयोग हिन्दी में अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर हिन्दी में अरबी, फ़ारसी के क्लिष्ट शब्द लिखना और उर्दू के व्याकरण की नक़ल करना हिन्दी की असलियत का सर्वनाश करना है। उर्दू का व्याकरण भी कोई व्याकरण है?

फ़ारसी, अरबी और तुर्की के उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों को उर्दू में लाने और इबारत को रंगीन बनाने की कोशिश में उर्दू-वालों ने अपनी भाषा की जो दुर्गति की है उसपर अध्यापक "आज़ाद" क्या कहते हैं, सो सुनिए। उनके "अमृत" (आबे-हयात) के पृष्ठ ४७, ४८, ५२ और ५३ देखिये—

"बयान मज़कूर" बाला से तुम्हें एजमालन् मालूम हो गया कि उर्दू का दरख़्त अगरचे संस्कृत और भाषा की ज़मीन में उगा मगर फ़ारसी की हवा में सरसब्ज़ हुआ है। अलबत्ता मुश्किल यह हुई कि "बेदिल" और "नासिर अली" का ज़माना क़रीब गुज़र चुका था और इनके मोतक़िद बाक़ी थे। वह इस्तेआरा और तशबीह के लुत्फ़ से मस्त थे। इस वास्ते गोया उर्दू भाषा में इस्तेआरा व तशबीह का रङ्ग भी आया और बहुत तेज़ी से आया। यह रङ्ग अगर इसी क़दर आता जितना चेहरेपर उबटनेका रङ्ग या आँखों में सुर्मा तो खुश्नुमाई और बीनाई दोनों को मुफ़ीद था। मगर अफ़सोस कि उसकी शिद्दत ने हमारे क़ूवत बयान की आँखों को सख़्त नुक़सान पहुँचाया और ज़ुबान को ख़याली बातों से फ़क़त तौहमात का स्वाँग बना दिया। नतीजा यह हुआ कि भाषा और उर्दू में ज़मीन आस्मान का फ़र्क़ हो गया।

"तअज्जुब यह है कि इन ख़यालों ने और वहां की तशबीहों ने इस क़दर ज़ोर पकड़ा कि इन के मुशाबेह जो यहां की बातें थीं उन्हें बिल्कुल मिटा दिया। अलबत्ता सौदा, सय्यद इन्शा के कलाम में कहीं कहीं हैं और वह अपने मौक़े पर निहायत लुत्फ़ देती हैं।

"ग़रज़ कि अब हमारी इनशा-परदाज़ी एक पुरानी याद-दाश्त उन तशबीहों और इस्तेआरों की है कि सदहा साल से हमारे बुज़ुर्गों की दस्तमाल हो कर हम तक मीरास पहुँची हैं। हमारे मुताख़रीन को नई आफ़रीं लेने की आर्ज़ू हुई त

बड़ा कमाल यह है कि कभी सिफ़त बाद सिफ़त कभी इस्ते-आरा दर इस्तेआरा से उसे और तङ्ग व तारीक किया जिससे हुआ तो यह हुआ कि बहुत ग़ौर के बाद फक़त एक वहमी नज़ाकत और फ़र्ज़ी लताफत पैदा हो गई कि जिसे मुहालात का (मुश्किलों का) मजमूआ कहना चाहिए। लेकिन अफ़सोस यह है कि बजाय इस के कि कलाम उन का ख़ास व आम के दिलों पर तासीर करे वह मुस्तैद लोगों की तबा-आज़माई के लिए एक दक़ीक़ मुअम्मा और अवाम के लिये एक अजीब गोरखधन्दा तैयार हो गया। और जवाब उन का यह है कि कोई समझे तो समझे, जो न समझे वह अपनी जेहालत के हवाले।"

सुना आप ने उर्दू के इन्शापरदाज़ों की करतूत! अब कुछ और सुनिए। दो एक बातों में फ़ारसी ढंग की नक़ल करके उर्दू, ब्रजभाषा से बढ़ गई—इस पर ख़ुशी मनाते हुए "आज़ाद" साहब "आबे-हयात" के पृष्ठ ५६ और ५७ में फ़रमाते हैं—

"इस फ़ख्र के साथ यह अफसोस फिर भी दिल से नहीं भूलता कि उन्होंने (अपने बुज़ुर्गों ने) एक कुदरती फूल को जो अपनी खुशबू से महकता और रङ्ग से लहकता था मुफ़्त हाथ से फेंक दिया। वह क्या है ? कलाम का असर और इज़हार अस्लियत। हमारे नाज़ुक ख़याल और बारीक बीन लोग इस्तेआरों और तशबीहों की रंगीनी और मुनासिबत लफ़्ज़ी के ज़ौक़ व शौक़ में ख़याल से ख़याल पैदा करने लगे और असली मतलब के अदा करने में बे-परवा होगये। अंजाम

इस का यह हुआ कि ज़ुबान का ढंग बदल गया और नौबत यह हुई कि अगर कोशिश करें तो फ़ारसी की तरह पंजरुक्का और मीना-बाज़ार या फ़िसानै-अजायब लिख सकते हैं। लेकिन एक मुल्की मुआमिला या तारीख़ें इन क़िलाब इस तरह नहीं बयान कर सकते जिस से मालूम होता जाय कि वाक़या मज़कूर क्योंकर हुआ और क्योंकर इख़्तिताम को पहुँचा।

"यह क़बाहत फ़क़त नाज़ुक-ख़यालो ने पैदा की कि इस्ते-आरा व तशबीह के अन्दाज़ और मुतरादिफ फिक़रे तकिया कलाम की तरह हमारी ज़बान-क़लम पर चढ़ गये। बेशक हमारे मुतक़द्दमीन उस की रंगीनी और नज़ाकत देख कर भूले मगर न समझे कि यह ख़याली रङ्ग हमारे असली जौहर को ख़ाक में मिलाने वाला है। यही सबब है कि आज अंगरेज़ी ढँग पर लिखने में या उनके मज़ामीन के पूरा पूरा तरजमा करने में हम बहुत क़ासिर हैं। नहीं! हमारी असली इन्शा-परदाज़ी इस रिश्ते में क़ासिर है।

"बेशक हमारी तर्ज़ बयान अपनी चुस्त बन्दिश और काफ़ियों के मुसलसल खटकों से कानों को अच्छी तरह ख़बर करती है। अपने रंगीन अलफ़ाज़ और नाज़ुक मज़मून से ख़याल में शोख़ी का लुत्फ़ पैदा करती है। साथ इस के मुबालिग़ा कलाम और इबारत की धूमधाम से ज़मीन व आसमान को तह व बाला कर देती है। मगर अस्ल मक़सूद यानी दिली असर या इज़्हार वाक़फ़ियत ढूंढो तो ज़रा नहीं।"

शिव! शिव! यद्यपि "आज़ाद" ने आबे-हयात में खुद भी रंगीन इबारत लिखी है तथापि ऐसी इबारत को बुरा बतलाने में उन्होंने ज़रा भी आगा पीछा नहीं किया। हम उन की न्यायपरायणता, सुरुचि और बहुदर्शिता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। जो अवतरण हम ने ऊपर दिये हैं उन के आगे भी उन्होंने उर्दू वालों की अस्वाभाविक रचना पर अफ़सोस ज़ाहिर किया है और उन की लानत मलामत की है।

शुरू शुरू में उर्दू-भाषा की टकसाल देहली और लखनऊ थी। इसका कारण "आज़ाद" यह बतलाते हैं कि इन दोनों शहरों में प्रत्येक शहर उस समय राजधानी था। "दरबार ही में ख़ानदानी उमरा और अमीर-ज़ादे ख़ुद साहब इल्म होते थे। उन की मजलिसें अहले इल्म और अहले कमाल का मजमा होती थीं। …………इसी वास्ते गुफ़्तगू, लिबास, अदब-आदाब, नशिस्त-बरख़ास्त, बल्कि बात बात ऐसी संजीदा और पसंदीदा होती थी कि ख़्वाह मख़्वाह सब के दिल कबूल करते थे।

पर अब वह समय नहीं। आज कल की दशा का वर्णन प्रोफ़ेसर साहब अपनी किताब के पृष्ठ ६१ और ६२ में इस तरह करते हैं—

"दिल्ली बरबाद, लखनऊ वीरान। दोनोंके सनदी अशख़ास कुछ पैवन्दज़मीन हो गये। कुछ दर बदर ख़ाक बसर। अब जैसे और शहर वैसे ही लखनऊ। जैसे छावनियों के बाज़ार वैसे ही दिल्ली। बल्कि उससे भी बदतर। कोई शहर ऐसा नहीं रहा

जिसके लोगों की ज़ुबान अमूमन सनद के क़ाबिल हो। क्योंकि शहर में ऐसे चीदा और बरगुज़ीदा अशखास जिनसे कि वह शहर क़ाबिल सनद हो सिर्फ़ गिनती के लोग होते हैं और वह ज़माने की सदहा साला मेहनतों का नतीजा होते हैं। इनमें से बहुत मर गये। कोई बुड्ढा जैसे ख़िज़ाँ का मारा पत्ता किसी दरख़्त पर बाक़ी है। उस बुड्ढे की आवाज़ कमेटियों के ग़ुल और अख़बारों के नक्कारख़ानों में सुनाई भी नहीं देती। पस अब अगर दिल्ली की ज़ुबान को सनदी समझें तो वहाँ के हर शख़्स की ज़ुबान क्योंकर सनदी हो सकती है। हवा का रुख़ और दरिया का बहाव न किसीके अख़्तियार में है न किसीको मालूम है कि किधर फिरेगा। इस लिए नहीं कह सकते अब ज़ुबान क्या रङ्ग बदलेगी। हम जहाज़ बे ना ख़ुदा हैं, तवक्कुल ब ख़ुदा कर बैठे हैं। ज़माना के इनक़िलाबों को रङ्ग चमन की तबदीली समझ कर देखते हैं और कहते हैं "आज़ाद"—

"क़िस्मत में जो लिखा था सो देखा है अब तलक।
"और आगे देखिए अभी क्या क्या हैं देखते।"

अतएव देहली और लखनऊ के बोल-चाल की नक़ल करना हिन्दी के लिए कदापि लाभदायक नहीं। जिसका सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता और सर्वमान्य ग्रन्थकार उसे ऐसी बुरी सनद दे उस भाषा की नक़ल करना हिन्दी के शुभचिन्तकों का कर्त्तव्य है या नहीं, इसका विचार हम पाठकों ही पर छोड़ते हैं। बँगला, मराठी, गुजराती, संस्कृत और अँगरेज़ी भाषायें

हिन्दी से बहुत बढ़ी चढ़ी अवस्था में हैं। उन की प्रणाली न स्वीकार कर के देहली और लखनऊ की महा अनस्थिर, व्याकरण-विरुद्ध और अस्वाभाविक भाषा की नक़ल कर के "जहाज बे ना ख़ुदा" बन कर प्रमाद महासागर में जान बूझ कर डूबना है।

[अप्रेल १९०६

१२—मर्दुमशुमारी की "हिन्दुस्तानी" भाषा !

अपनी भाषा सभीको प्यारी होती है। भाषा अच्छी हो या बुरी, उन्नत हो या अनुन्नत, शब्दश्री-सम्पन्न हो या शब्दश्री-हीन, बिना उसके सांसारिक व्यवहार नहीं चल सकता। पशु-पक्षियों की भी भाषा होती है और उसके द्वारा वे भी सुख और दुःख, हर्ष और विषाद, भय और शोक प्रकट करते हैं। परन्तु अपनी भाषा के पूर्ण महत्त्व को सभ्य और शिक्षित जातियाँ ही समझती हैं। वे जानती हैं कि जिनकी भाषा, जिनका धर्म्म, जिनका आचार और जिनका वस्त्र-परिच्छद एक सा नहीं वे कभी अपनी जातीयता अक्षुण्ण नहीं रख सकतीं। यही बातें हैं जो मनुष्यों के समुदाय को दृढ़तापूर्वक एक ही बन्धन से बद्ध सा कर देती हैं। इनके अस्तित्व के आधार पर ही एकता, देश-भक्ति, पारस्परिक सहानुभूति आदि की सृष्टि होती है और वह उत्तरोत्तर बढ़ती भी है। जिनकी भाषा भिन्न है, जिनका धर्म्म भिन्न है, जिनका वस्त्राच्छादन भिन्न है उनसे दूसरों का मन अच्छी तरह नहीं मिल सकता; उनमें पर-स्पर भ्रातृभाव नहीं उत्पन्न हो सकता; हजार प्रयत्न करने पर भी वे एक नहीं हो सकते। इसीसे दूरदर्शी जन और जन-समुदाय अपनी भाषा का इतना आदर करते हैं। और देशों की बातें जाने दीजिए। अपने ही देश के दो एक उदाहरणों

पर विचार कीजिए। आठ नौ सौ वर्ष हुए जब पहले पहल मुसलमानों ने इस देश में क़दम रक्खा था। धीरे धीरे वे इस देश के अधीश्वर हो गये। उस समय इस देश के निवासी न गूँगे थे और न बिना भाषा ही के थे। उनकी भी अपनी निज की भाषा थी। अथवा यों कहना चाहिए कि प्रत्येक प्रान्त में एक एक प्रधान भाषा बोली जाती थी और इन भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या भी करोड़ों थी। उधर मुसलमान उनके मुक़ाबले में बहुत ही थोड़े थे। फ़ी एक लाख भारतवासियों के पीछे मुसलमान शायद एक सौ से भी कम ही रहे होंगे। अतएव एक लाख के सुभीते के लिए एक सौ को चाहिए था कि वे उन एक लाख मनुष्यों की भाषा और लिपि सीखते और उन्हीं का प्रचार करते। परन्तु उन्हें अपनी भाषा इतनी प्यारी थी कि उन्होंने उसे न छोड़ा। उलटा यहां के लाखों आदमियों को अपनी भाषा और अपनी लिपि सीखने के लिए मजबूर किया।

यही हाल अँगरेज़ों का भी है। उनकी संख्या तो मुसलमानों से भी कम है—वे तो केवल मुट्ठी भर हैं। पर उन्होंने भी यहां की भाषाओं को प्रधानता न दी। जहाँ तक उनसे हो सका उन्होंने उलटा यहाँवालों ही को अपनी भाषा सिखाई। यहाँ-वालों की भाषा या बोली उन्होंने मजबूरन सीखी भी तो बस काम चलाने भर को, अधिक नहीं। कचहरियों और दफ्तरों में, यहाँ प्रान्तिक भाषाओं में काम होता है वहाँ भी, वे, यदि उनका बस चलता तो, अपनी ही भाषा प्रचलित कर देते, पर

उतने अँगरेज़ीदाँ आते कहाँ से। इसी से विवश होकर उन्हें यहाँ की भाषा से ही काम लेना पड़ा।

जातीयता, एकता, सहानुभूति और पारस्परिक भ्रातृभावना की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि के लिए जिस भाषा की इतनी आवश्यकता है उसके विषय में अवहेलना या भेदनीति से काम लिया जाता देख किस विवेकशील सज्जन को सन्ताप न होगा?

और और प्रान्तों में प्रायः एक ही एक देशी भाषा का प्राधान्य है। मद्रास में अलबते कई देशी भाषायें प्रचलित हैं। पर उन सबके क्षेत्र जुदा जुदा हैं—तामील, तेलगू, मलयालम अपने ही अपने ज़िलों में बोली जाती हैं। उनकी खिचड़ी नहीं पकती। जहां कनारी है वहां उसी की मुख्यता है: जहां तामील है वहां उसी की। यही हाल कुछ अन्य भाषाओं का भी है। गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी और बङ्गाल में बँगला भाषा बोली जाती है। लिखने और बोलने की भाषायें वहां वही हैं। इसी तरह मध्यप्रदेश और बिहार में हिन्दी का प्रचार है। इन दोनों प्रान्तों की शासन-रिपोर्टों और मर्दुमशुमारी की भी रिपोर्टों में वहां की भाषा बोलने वाले हिन्दी-भाषा-भाषी ही माने गये हैं और अब भी माने जाते हैं। परन्तु आपको सुन कर आश्चर्य्य होगा कि यदि बिहार और मध्यप्रान्त के दो चार हज़ार—इतने ही क्यों, लाख दो लाख भी—आदमी संयुक्त-प्रान्त में मर्दुमशुमारी के दिन, काशी, प्रयाग, हरद्वार या और कहीं ठहरे मिलें तो उनकी बोली हिन्दी के बदले "हिन्दुस्तानी" हो जाय। इस अघटनशील घटना का गुरुत्व या महत्त्व थोड़ा

न समझिए। इसकी गुरुता वही अच्छी तरह समझ सकेंगे जो अपनी भाषा के महत्त्व को जानते हैं।

इन प्रान्तों में दो भाषायें बोली जाती हैं। एक उर्दू, दूसरी हिन्दी। शहरों और क़सबों में रहनेवाले मुसल्मानों, कुछ कायस्थों और काश्मीरियों, और कचहरियों तथा सरकारी दफ़्तरों के मुलाज़िमों को छोड़कर अन्य सभी की भाषा या बोली हिन्दी है। इन के सिवा यदि और भी कुछ लोग उर्दू बोलनेवाले होंगे तो उनकी, कथा जिनका नामनिर्देश यहां पर किया गया उन सब की, सम्मिलित संख्या हिन्दी बोलनेवालों के मुक़ाबले में शायद फ़ी सदी बीस पचीस से अधिक न होगी। पर सरकार इस अकेले प्रान्त में एक के बदले दो भाषाओं से बहुत घबराती सी है। मदरास में तोन तीन चार २ बोलियां या भाषा बोली जाती हैं; परन्तु वहां की गवर्नमेंट उन सब का लेखा-जोखा रखने का झंझट उठा लेती है। बम्बई की गवर्नमेंट भी मराठी और गुजराती भाषा बोलनेवालों का हिसाब अलग अलग रखती है। ऐसा करने में यदि किसी को कुछ तकलीफ़, झंझट या सङ्कोच होता है तो संयुक्त-प्रान्त की गवर्नमेंट को। वह चाहती है कि भाषा-विषयक द्वैधीभाव यहां न रहे। इसी से वह, दो एक दफे, मदरसों के छोटे छोटे दरजों की पाठ्य पुस्तकों की भाषा एक कर डालने की चेष्टा भी कर चुकी है। उसकी इस भाषा या बोली का नाम कुछ लोगों ने सरकारी बोली रक्खा है। मगर उसकी यह चेष्टा अभी तक पूर्णरूप से सफल नहीं हुई। ख़ैर।

मदरसों की पुस्तकों की भाषा एक कर डालने की चेष्टा में सरकार को यद्यपि पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि वह अपनी उद्देश-सिद्धि के लिये बराबर यत्न करती ही चली जा रही है—उसकी रगड़ बराबर जारी है। अब तक मर्दुमशुमारी के काग़ज़ात में हिन्दी और उर्दू, दोनों ही भाषायें बोलनेवालों की संख्या जुदा जुदा बताई जाती रही है। पर इस दफ़े, पिछली मनुष्य-गणना के समय, उसने इस भेद-भाव को एक-दम ही दूर कर दिया है। उसने हिन्दी को भी अर्द्धचन्द्र दे दिया है और उर्दू को भी। उन दोनों की जगह उसने "हिन्दुस्तानी" को दे दी है। सो अब सब लोगों को यह कल्पना कर लेनी चाहिए कि न इन प्रान्तों में कोई हिन्दी ही बोलनेवाला है और न उर्दू ही बोलनेवाला। जो भाषा या बोली यहां बोली जाती है वह "हिन्दुस्तानी" है। हिन्दुओं को अब हिन्दी भूल जाना चाहिए और मुसल्मानों को उर्दू। सरकार के लिए तो यह बहुत बड़े सुभीते की बात हुई, पर जो साहब समस्त भारत की मनुष्य-गणना पर आलोचनात्मक रिपोर्ट लिखेंगे या लिखी होगी उन पर क्या गुज़री होगी या गुज़रेगी, यह हमें अब तक नहीं मालूम हुआ; क्योंकि उनकी रिपोर्ट अब तक हमारे देखने में नहीं आई। बात यह है कि अन्य प्रान्तों की—विशेष करके बिहार और मध्य-प्रदेश—की मनुष्य-गणना के अध्यक्ष अपने अपने नक़्शों में ज़रूर ही हिन्दी बोलने वालों की संख्या दिखावेंगे। क्योंकि अन्य सभी प्रान्तों में थोड़े बहुत हिन्दी बोलनेवाले ज़रूर ही निकलेंगे। इस दशा में उन सबका लेखा ज़रूर ही

प्रकाशित करना पड़ेगा। हिन्दू-उर्दू बोलने वालों के अनस्तित्व का पता यदि कहीं के नक़्शों में मिलेगा तो परम सुधारक संयुक्त-प्रदेश ही के नक़्शों में मिलेगा। सो इस प्रदेश की विशेषता की रक्षा के लिए भाषा-विषयक नक़्शे या नक़्शों में एक ख़ाना "हिन्दुस्तानी" का भी रखना पड़ेगा। सो जहां और अनेक भाषायें या बोलियां इस देश में प्रचलित हैं वहाँ एक काल्पनिक भाषा "हिन्दुस्तानी" भी बढ़ानी पड़ेगी।

अच्छा, यह हिन्दुस्तानी भाषा है क्या चीज़? इसका नाम कुछ ही समय से सुन पड़ने लगा है; यह कोई नई भाषा तो है नहीं। जो लोग हिन्दी या उर्दू अच्छी तरह नहीं बोल सकते—उदाहरणार्थ मदरासी, महाराष्ट्र और सबसे अधिक हमारे साहब लोग—उन्हीं की भ्रष्ट भाषा यदि हिन्दुस्तानी कही जा सके तो कही जा सकती है। यही लोग टूटीफूटी हिन्दी बोल कर किसी तरह अपना काम चलाते हैं। इसी अर्थ में "हिन्दुस्तानी" आख्या चरितार्थ हो सकती है। इसी अर्थ में वह सारे हिन्दुस्तान की भाषा हो सकती है। पर भ्रष्ट, अपभ्रष्ट या ग़लत-सलत भाषा बोलने से क्या किसी नई भाषा की सृष्टि भी हो सकती है? यदि इँगलैंड में रहनेवाले जापानी लस्टमपस्टम अँगरेज़ी बोलें तो संयुक्त-प्रान्त की मनुष्य-गणना के बड़े साहब उनकी उस अँगरेज़ी को क्या कोई नया नाम देने को तैयार होंगे? परन्तु तर्क, युक्ति और औचित्य को यहां पूछता कौन है और उनकी क़दर करता कौन है? मर्दुमशुमारी के साहब ने इन प्रान्तों की सरकार से सिफारिश कर दी कि हिन्दी-उर्दू

का झमेला ठीक नहीं; दोनों की जगह "हिन्दुस्तानी" को दे दी जाय। बस सरकार ने "तथास्तु" कह दिया और क़लम के एक ही स्वल्प सञ्चालन से हिन्दी और उर्दू दोनों ही उड़ गईं। "हिन्दुस्तानी" पर तो सरकार पहले ही से फ़िदा है। उसकी पसन्द की हुई स्कूली किताबें, उसके मुतरजिमों की तर्जुमा की हुई क़ानून की किताबें, उसके गैज़टों और इश्तहारों की बहुत ही चुस्त और दुरुस्त इबारतें उसके हिन्दुस्तानी-प्रेम का पूरा प्रमाण है।

ऊपर ही ऊपर देखने से तो "हिन्दुस्तानी" का प्रयोग हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के पृष्ठपोषकों की दृष्टि से एकसा हानि-कारक है; क्योंकि इस नये नाम ने उन दोनों भाषाओं के नाम को उड़ा दिया है। पर इसके भीतर एक रहस्य है। कुछ समय से साहब लोगों तथा कुछ और भी दूरदर्शी महात्माओं ने हिन्दुस्तानी को उर्दू ही का वाचक मान रक्खा है। अतएव ऐसे लोग यदि समझें कि इन प्रान्तों में एक भी हिन्दी बोलनेवाला नहीं, समस्त प्रान्त हिन्दुस्तानी उर्फ़ उर्दू ही बोलता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह धारणा हो जाने पर भविष्यत् में क्या क्या गुल खिल सकते हैं, और हिन्दी को आच्छादित कर लेने के लिए उस पर कैसी कैसी भ्रमोत्पादक घटायें घिर सकती हैं, इसका अनुमान अच्छी तरह किया जा सकता है।

बात ज़रा दूर तक विचार करने की है। देहात के निवासी जानते हैं कि एक ही ज़िले में, दो दो चार चार कोस पर भी, बोली में कुछ न कुछ अन्तर पड़ जाता है। लखनऊ ज़िले के

लोगों की बोली इलाहाबाद ज़िले के लोगों की बोली से और भी अधिक दूर हो जाती है। इसी तरह सहारनपुर और बलिया या गाज़ीपुर की बोली में तो सैकड़ों शब्द ऐसे पाये जाते हैं जो दोनों ज़िलों में एक से नहीं बोले जाते। पर क्या इस भेद-भाव के कारण भाषा ही बदल जाती है? यदि बदल जाय तो कहीं कहीं हर ज़िले में दो दो तीन तीन बोलियों या भाषाओं की कल्पना करनी पड़े। बोली में जैसे यहाँ, थोड़ी थोड़ी दूर पर, अन्तर हो गया है वैसे ही इँगलैंड में भी हो गया है। यह बात मर्दुमशुमारी के सुपरिंटेंडेंट स्वयं भी स्वीकार करते हैं। पर वहाँ अँगरेज़ों की अँगरेज़ी ही बनी हुई है। उसमें भेद-कल्पना नहीं की गई। तथापि इस देश की सरकार के द्वारा नियत किये गये डाक्टर ग्रियर्सन ने यहाँ की भाषाओं की नाप-जोख करके संयुक्तप्रान्त की भाषा को चार भागों में बाँट दिया है—(१) माध्यमिक पहाड़ी (२) पश्चिमी हिन्दी (३) पूर्वी हिन्दी और (४) बिहारी। आपका वह बाँट-चूँट वैज्ञानिक कहा जाता है और इसी के अनुसार आपकी लिखी हुई भाषा-विषयक (LuguisticSurvey) रिपोर्ट में बड़े बड़े व्याख्यानों, विवरणों और विवेचनों के अनन्तर इन चारों भागों के भेद समझाये गये हैं। पर भेद-भाव के इतने बड़े भक्त डाक्टर ग्रियर्सन ने भी इस प्रान्त में "हिन्दुस्तानी" नाम की एक भी भाषा को प्रधानता नहीं दी।

ज़रा दिल्लगी तो देखिए। उधर तो सरकार ही के एक बहुत बड़े कर्म्मचारी, डाक्टर ग्रियर्सन, जो भाषाओं के तत्वदर्शी

समझे जाते हैं, एक के बदले यहाँ चार चार भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इधर सरकार ही के अन्यतम कर्म्मचारी, मर्दुमशुमारी के सुपरिंटेंडेंट, एडी साहब, हिन्दी और उर्दू, इन दो भाषाओं का भी भेद दूर करके एक "हिन्दुस्तानी" ही रखना चाहते हैं। अब किसकी बात ठीक मानी जाय या किसकी तारीफ़ की जाय? डाक्टर साहब की या एडी साहब की?

सुपरिंटेंडेंट साहब की शिकायत है कि १९२१ ईस्वी की मर्दुमशुमारी में, भाषा-विषयक विवाद ने बड़ा उग्ररूप धारण किया था। शुमारकुनिन्दा लोगों को भुलावे दिये गये थे; उन्होंने खुद भी, जिसकी जैसी मौज थी या जो जिस भाषा का पक्षपाती था, उसीको नक़्शों में दर्ज किया था। इससे भाषा के सम्बन्ध में मनुष्य-गणना ठीक ठीक नहीं हुई। इसी दोष को दूर करने के लिए इस दफ़े आपने यह "हिन्दुस्तानी" तोड़ निकाली है। नतीजा यह हुआ कि इस प्रान्त में फ़ी दस हज़ार आदमियों में से ९, ९७४ मनुष्य हिन्दुस्तानी बोलनेवाले निकल आये हैं और इस लेखे में रत्ती, बादाम, छदाम की भी भूल नहीं।

सुपरिंटेंडेंट साहब को भाषा-विषयक वाद-विवाद इसलिए भी पसन्द नहीं कि उर्दू और हिन्दी के हामी इस पर धार्मिक रङ्ग चढ़ा दिया करते हैं। आपका यह कथन किसी हद तक ठीक भी है। पर इस रङ्ग को आप कहां कहां धोते फिरेंगे। इसने तो सारे भारत को ही सराबोर कर दिया है। जब आप मुसल्मानों के लिए शिक्षा का अलग प्रबन्ध करते हैं, जब आप उनके और

हिन्दुओं के लिए कौंसिलों में कुर्सियों की संख्या अलग अलग निर्दिष्ट करते हैं, जब आप डिपटी कलक्टरी के उम्मेदवारों में भी धार्मिक बांट-चूंट किया करते हैं तब आप भाषा-विषयक विवाद से क्यों इतना घबराते हैं? एक विषय में तो एकाकार, अन्य विषयों में विभेद-योजना! आपकी यह नीति साधारण जनों की समझ में तो आती नहीं, असाधारणों की समझ में चाहे भले ही आ जाय।

रही यह बात कि १९११ को मर्दुमशुमारी के अङ्क सही नहीं थे, क्योंकि हिन्दी-उर्दू के पक्षपातियों ने पक्षपात से काम लिया था। सो इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आपको इससे क्या? जो अपनी भाषा हिन्दी बतावे उसे आप हिन्दी-भाषी समझें; जो अपनी भाषा उर्दू बतावे उसे उर्दू-भाषी। वह सच कहता है या नहीं, इसके पीछे आप इतने हैरान क्यों? यह बात आप बतानेवाले के दीनो-ईमान पर क्यों न छोड़ दें? कोई टैक्स तो आपको वसूल करना नहीं, जो सच बात न कहने से टके कम मिलेंगे। अच्छा, आपही कहिए, आपने मर्दुमशुमारी के नक़्शों में उम्र के हिसाब से यहां के निवासियों की जो गिनती की है वह क्या लोगों के जन्मपत्र या बैतिस्मे के रजिस्टर देख कर की है? जिसने अपनी उम्र ५० वर्ष की बताई उसकी सचाई जांचने की कसौटी भी कोई आपने रक्खी? वह सच कह रहा है या नहीं, इसकी शहादत भी आपने उससे मांगी? नहीं मांगी और उसकी बात पर ही विश्वास कर लिया तो भाषा-विषयक उक्तियों पर क्यों न विश्वास किया जाय?

इस विषय पर जितना ही अधिक विचार किया जायगा उतना ही अधिक विरोध के लिए जगह निकलती आवेगी। सरकार ने हिन्दी और उर्दू दोनों को निकाल कर उनके आसन पर जो "हिन्दुस्तानी" को बिठा दिया है, यह बात इस प्रान्त के प्रत्येक विवेकशील मनुष्य के हृदय में खटक पैदा करनेवाली है। बड़े ही परिताप की बात है कि इस इतने महत्त्व की घटना या दुर्घटना पर, जहाँ तक हम जानते हैं, किसी ने अब तक चूँ तक नहीं किया। हाँ, एक मासिक पत्रिका में दो चार सतरें ज़रूर देखी गई हैं।

नवम्बर १९२३

— —

१३ विदेशी गवर्नमेंट और स्वदेशी भाषायें ।

यदि कोई जाति या देश किसी अन्य जाति या देश पर अधिकार कर ले और उसे अपने शासन में रखना चाहे तो उसे चाहिए कि वह शासित देश पर की शासित जाति में दूध मिश्री की तरह मिल जाय । तभी उसका अधिकार उस देश पर स्थायी या बहुकाल व्यापी हो सकेगा, अन्यथा नहीं । क्योंकि किसी देश पर किसी अन्य देश का शासन सर्वथा अस्वाभाविक है । और अस्वाभाविकता कभी चिरस्थायिनी नहीं हो सकती इससे विदेशी शासकों को स्वाभाविकता की ओर यथा शक्ति खिचना चाहिए और भेद-भावको दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये । उन्हें चाहिए कि शासित देश की भाषा, लिपि, धर्म्म, सामाजिक व्यवहार, और रीति-रवाज आदि से यथेष्ट परिचित हो जाय और परिचय प्राप्त करके शासित देश की आत्मा, संस्कार और प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल कोई काम न करे । तभी शासकों और शासितों में सद्भाव की उत्पत्ति होगी और तभी शासित देश के निवासी शासकों का शासन किसी तरह सहन कर सकेंगे ।

खेद है, इस प्रकार का सद्भाव भारत में नहीं । यहां के शासक अंग्रेज अपने देश से नौजवान अंग्रेजों को बड़े बड़े उहदों पर नियत करके इस देश को भेजते हैं । वे यहां की प्रायः सभी बातों से अनभिज्ञ रहते हैं । फल यह होता है कि उन्हें पद पद

पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। शासितों के क: बढ़ते हैं, उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं होती। इस कारण द्वेष की नहीं तो औदासीन्य और अप्रीति की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, जो शासकोंके लिए बहुत ही हानिकारक है।

इस देश के भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न भाषायें प्रचलित हैं। शासक शुरू शुरू में उनसे प्रायः सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं। फल इसका बहुत ही विषमय होता है। बड़े बड़े अधिकारियों की बात जाने दीजिए, छोटे छोटे अधिकारी भी तो हम लोगों की लिपि, भाषा, भावभङ्गी जानने का यत्न नहीं करते। इस कारण हम लोगों की दृष्टि में वे अपनेको उपहास का पात्र बनाते हैं। पर अपने अधिकार के मद में मत्त होने अथवा अपनी जाति की श्रेष्ठता के नशे से बेहोश रहने के कारण वे उस उपहास की परवा नहीं करते। परन्तु क्या इससे उनकी कुछ हानि नहीं होती? हानि होती है और बहुत होती है, जिसका अनुभव समय आने पर, इन्हें ज़रूर ही होता है।

हमारी भाषा और लिपि का काफी ज्ञान सम्पादन न करने के कारण ही हमारे नगरों, कसबों, गांवों, डाकखानों और स्टेशनों के नामों की जो दुर्दशा अधिकारियों ने की है और कर रहे हैं देखकर बहुत परिताप होता है। देहली या दिल्ली का डेलही, लखनऊ का लकनौ और मथुरा का मटरा कर डालनेवालों यही सुजान-शिरोमणि हैं। स्टेशनों पर तीसरे दरजे के मुसाफि-रों के लिए बनाये गये पाखानों का नाम निर्देश कहीं कहीं केवल अंगरेजी भाषा में रहता है और रेल के तीसरे दरजे के डब्बों के

दरजे का निर्देश तो प्रायः सर्वत्रही अंगरेजी में रहता है। जैसे तीसरे दरजे के सभी मुसाफिर अंगरेजों ही के टापू के रहनेवाले हों और अपनी अपनी मातृभाषायें भूल कर सबके सब एकदम-अंगरेजीदां हो गये हों! इसका एक मात्र कारण इन लोगों का अविवेक, बेपरवाही और भारतवासियोंके सुभीतेकी ओर दुर्लक्ष्य करना ही है! अगर ये चाहें तो जरा से ही प्रयत्न से ये दोष दूर हो सकते हैं। पर वे हमलोगों के सुभीते के लिए इतना भी नहीं करना चाहते। अथवा, सम्भव है, वे इसे दोष ही न समझते हों, वे अपने मनमें यह सोचते हों कि इससे हम लोगों को कुछ भी कष्ट नहीं, हमारी कुछ भी हानि नहीं। पर हमारा निवेदन तो यह है कि यदि ये लोग हमारी भाषा और हमारी लिपि से जानकारी रखते तो ये त्रुटियां कभी इनसे होतीं ही नहीं। पर इनका मूलमन्त्र तो यह जान पड़ता है कि हम ३२ करोड़ भारतवासी इन कुछ थोड़े से अधिकारियों के सुभीते के लिये इनकी भाषा के तो पण्डित बन जायं, पर ये मुट्ठीभर होकर भी हम करोड़ों के सुभीते के लिए हमारी भाषा न सीखें।

इनका यह उसूल यहीं तक सीमाबद्ध नहीं। वह और भी बहुत दूरतक व्याप्त है। यदि ये लोग हमारी भाषा सीखते तो हम बिना विशेष परिश्रम और खर्च के अपनी ही भाषा द्वारा विशेष ज्ञान सम्पादन करके शासन सम्बन्धी बहुत कुछ काम कर सकते। परन्तु ये ऐसा नहीं करते। ये प्रायः सारे शासनकार्य्य अपनी अंग्रेजी ही भाषा में करते हैं। इसीसे कचहरियों, दफ्तरों, स्कूलों और कालेजों आदि में नौकरी पाने के उद्देश से

हमें भी अंग्रेजी भाषा पढ़नी पड़ती है। इससे इन्हींका सुभीता है। हमारा नहीं, इस सुभीते की माया का ओर छोर नहीं। सिविल सर्विस, डाक्टरी, बारिस्टरी, एंजिनियरी, जङ्गलात आदि के महकमे में ऊंचे ऊंचे पद पाने की इच्छा रखनेवालों को विशेष विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। वैसी शिक्षा देनेके लिए जो कालेज हैं उन सब में भी अंग्रेजी भाषा के ही द्वारा शिक्षा दी जाती है। पर बात यहीं तक नहीं; यह नहीं कि वैसी शिक्षा यहीं इस देश में मिल जाय। वे कालेज प्रायः सबके सब विलायत में हैं। सो यदि हम लोग वैसी शिक्षा प्राप्त करना चाहें तो पहले तो दस पन्द्रह वर्ष यहां अंग्रेजी पढ़ने में सिरखपी करें; फिर अनेक विघ्नबाधाओं को पार करके सात समुद्र पार विलायत पधारें। तब कहीं तक बेरिस्टर, बड़े डाक्टर या बड़े एंजिनियर होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। ये हैं विदेशी गवर्नमेंट की नियामतें।

योरप के बेलजियम, डेनमार्क, हालेंड, स्पेन, पोर्चुगाल, स्वीडन, और नार्वे आदि देश हिन्दुस्तान के केवल एक एक सूबे के बराबर हैं। पर वे सब प्रकार के पेशों, विद्याओं, विज्ञानों और व्यवसायों की ऊंची से ऊंची शिक्षा देने के लिये समस्त साधन रखते हैं। हर विषय की शिक्षा देनेके लिए वहां कालेज हैं। वहां-वालोंके लिए न लन्दन जाना पड़ता न डबलिन, न आक्सफर्ड और न केम्ब्रिज। पर इतने बड़े देश हिन्दोस्तान में ऐसे कालेज नहीं। करोड़ों रुपये खर्च करके सरकार अपने मन के काम कर डालेगी, चार ही पाँच वर्षों में फौज का खर्च दूना करके

उसे कोई ६० करोड़ सालाना कर देगी। पर ऐसे कालेज जिनमें बारिस्टरी, ऊंचे दर्जकी डाक्टरी आदि सिखाई जाय न खोलेगी अथवा न खोल सकेगी। इसका कारण खर्च की कमी बताई जा सकती है। परन्तु सम्भव है, असल बात कुछ और ही हो। यदि इन सब विषयों और विद्याओं की शिक्षा का प्रबन्ध यहीं इसी देश में हो जाता तो भिन्न भिन्न सरकारी महकमों में इस समय बड़े बड़े उहदों पर हिन्दुस्तानी ही हिन्दुस्तानी देख पड़ते। पर दृश्य बिलकुल ही इसका उलटा है। इस देश में अंग्रेजी राज्य का आरम्भ हुए कोई १५० वर्ष हुए। तथापि यहां पशु-चिकित्सा तक की उच्च शिक्षा देनेके लिए कोई कालेज नहीं। ऐसी शिक्षा प्राप्तकरके ठेठविलायत से ही अबतक विलायतवासी यहां आते रहे हैं और आते जाते हैं। वही यहां देवोपम सुख-समृद्धि का उपयोग करते हुए हमारे घोड़ों, गधों, गायों और भैंसों आदि पशुओं का इलाज करते हैं।

इन पदों की प्राप्तिके लिए अबतक तो सरकारने कोई विशेष बात हम लोगोंके सुभीते की न की थी। पर अब न मालूम क्या समझकर उसने एक घोषणापत्र हाल ही में निकाला है। उसका सारांश नीचे दिया जाता है:—

गवर्नमेंट चाहती है कि कुछ भारतवासी युवक विलायत जायं और वहां पशु चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करें। जो लोग वहां इस शास्त्र का अध्ययन करके सर्टीफिकेट प्राप्त करेंगे उन्हें गवर्नमेंट अपने मुल्की पशुचिकित्सा-विभाग (सिविल वेटेरिनरी डिपार्टमेंट में) जगह देगी। आरम्भ में उन्हें ३५०) मासिक

वेतन मिलेगा। आठ वर्ष में वह ६५०) मासिक तक बढ़ाया जा सकेगा। इसके आगे भी वेतन वृद्धि हो सकेगी; पर उन्हीं लोगों को जो विशेष योग्यता दिखावेंगे। २१ वर्ष तक कामकर चुकने पर इन विशेष योग्यतावाले कर्मचारियों का वेतन धीरे धीरे १२५०) मासिक तक हो सकेगा। इनमें से भी कुछ लोगों का वेतन १५००) मासिक तक बढ़ सकेगा। इतना वेतन उन्हीं को दिया जायगा जो बहुत अधिक योग्य समझे जायंगे और जो इतने वेतन के पदोंके लिये चुन लिये जायंगे। वेतन के ये निर्ख उन्हीं के लिये हैं जो भारतवासी हैं—जिनकी जन्मभूमि भारत है-औरों के, अर्थात् जो भारतवासी नहीं हैं उनके वेतन का निर्ख कुछ और ही होगा। बात यह है कि जितना वेतन हिन्दुस्तानियों को मिलेगा उससे अधिक वेतन उन लोगों को मिलेगा जो योरप के निवासी हैं। सो हिन्दुस्तानियों के लिये जो नियम बनाये गये हैं वे योरप वालों के विषय में चरितार्थ नहीं। उनकी पदप्राप्ति और वेतन-भोग के नियम कुछ और ही होंगे और होने ही चाहिये, क्योंकि यह भेद भाव प्रायः सभी महकमों में रक्खा गया है।

जो भारतवासी युवक पशुचिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करने के लिए इङ्गलैंड जाना चाहें उनकी उम्र १६ वर्ष से कम और २३ वर्ष से अधिक न होनी चाहिए। उनके लिये यह लाजमी होगा कि उन्होंने किसी भारतीय विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक डिगरी (बी. एस. सी.; एम. एस. सी. आदि) नामवरीके साथ प्राप्त की हो। वे योरपवासी भी अध्ययन के लिए भेजे जा सकेंगे;

जो हिन्दुस्तान में सदा के लिए बस गये हैं। उम्मेदवारों को चाहिए कि वे २० जून सन् १९२१ तक अपनी दरखास्त—

सेक्रेटरी टू दि गवर्नमेंट आफ इण्डिया, डिपार्टमेंट आव् रेवेन्यू ऐण्ड ऐग्रीकलचर, शिमला, को भेजें। सरकार ने गैज़ेट आव् इण्डिया में एक फार्म छापा है। उसी फार्म को भरकर भेजना चाहिए। दरखास्त का नमूना वही है। उसके साथ ही सिविल सर्जन का एक सर्टिफिकेट भेजना चाहिए कि उम्मेदवार की तन्दुरुस्ती अच्छी है और वह पशुचिकित्सा-विभाग में काम करने योग्य है। जिन लोगों की दरखास्तों से यह मालूम हो जायगा कि वे काफी योग्यता रखते हैं उनकी डाक्टरी बड़ी बारीकी से होगी। यदि डाक्टर लोग कह देंगे कि, हाँ यह उम्मेदवार खूब तन्दुरुस्त है, तब गवर्नमेंट के कुछ अधिकारी उसका मुलाहजा करेंगे। मुलाहजे में ठीक उतरने पर उम्मेदवार के जिले के हाकिमों से उसकी योग्यता आदि के विषय में पूछ पाछ की जायगी। उसका फल भी यदि सन्तोषजनक होगा तो वह सरकारी खर्च से विलायत भेजा जायगा। वहां उसे ४ वर्ष तक पढ़ना पड़ेगा। छात्रवृत्ति के रूप में गवर्नमेंट उसे २५० पौंड सालाना खर्च देगी। मगर उसे अपने पास से भी कोई १०० पौंड सालाना ख़र्च करना पड़ेगा, क्योंकि ३५० पौंड से कम में वहां का ख़र्च नहीं चल सकता। अगले सितम्बर में उसे विलायत के लिये रवाना हो जाना पड़ेगा।

इतने महाभारत के बाद उम्मेदवार जब विलायत पहुंचेगा तब उसे अपने अध्ययन और अपने चालचलन से सेक्रेटरी आव स्टेटको सन्तुष्ट करना पड़ेगा। जी लगाकर अध्ययन न करने, चालचलन ठीक न होने, नियमों की पाबन्दी न करने और परीक्षा में पास न होने पर छात्रवृत्ति का रुपया लौटा देना पड़ेगा। इस दशा में उसे अपना सा मुंह लेकर भारत लौट आना पड़ेगा और पशुचिकित्सा-विभाग में नौकरी पाने से वञ्चित रहना पड़ेगा। सब बातें ठीक होने और परीक्षा पास कर लेने पर उम्मेदवार को एक दस्तावेज लिखकर कितनी ही शर्तों से अपने को जकड़ लेना पड़ेगा। तब कहीं पशुओं को चिकित्सा करने का दुर्लभ पद उसे मिल सकेगा।

भला इतनो कड़ी परीक्षा और इतनी शर्तों की पाबन्दी कराने पर यदि उम्मेदवारों को अपनी ही भाषा में इस शास्त्र का अध्ययन करने का सुभीता होता तो भी विशेष न खलता। यह न सही, अपने देश में ही यह शास्त्र सीखने का प्रबन्ध हो जाता—अपनी भाषा में न सही, अङ्गरेजी में ही सही। परन्तु वह भी नहीं। पहिले १०, १५ वर्ष तक अङ्गरेजी पढ़ो, हजारों रुपये फूंक तापो, फिर विलायत जाओ। तब इस योग्य हो कि तुम घोड़ों और खच्चरों का इलाज करो। इस प्रकार की अस्वाभाविकता क्या पृथ्वी की पीठ पर और भी किसी देश में है? जब अंग्रेज़ी राज्य न था तब क्या यहां बीमार पशुओं का इलाज न होता था? अथवा जिन देशों में अंग्रेज़ी राज्य नहीं या जहां अंग्रेज़ी भाषा प्रचलित नहीं वहां क्या पशुओं की चिकित्सा

होती ही नहीं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के लिए सब तरह के सुभीते करदे। फिर क्यों नहीं सरकार सब तरह की शिक्षा का प्रबन्ध यहीं करती? क्यों वह मुट्ठीभर अधिकारियों के सुभीते के लिए करोड़ों भारतवासियों को अंग्रेजी पढ़ने के लिए लाचार करती है? अधिकारियों को चाहिए कि वही खुद हमारी भाषायें सीखें और हमारी ही भाषाओं में हमें सब प्रकार की शिक्षा देने की योजना करें। यदि वे किसी कारण से ऐसा नहीं कर सकते तो हमें अपना काम आपही करने के लिए मैदान साफ कर दें। हर बात के लिए हम कब तक विलायत की दौड़ लगाते रहेंगे?

जुलाई १९२१.

१४—कवि सम्मेलन ।

कवित्व शक्ति की प्राप्ति, प्रकृति या परमेश्वर की कृपा ही से होती है । उसे उसका अलौकिक दान कहना चाहिए । आचार्य्यों ने कवि को द्वितीय ब्रह्मदेव माना है । ब्रह्मा के सदृश ही कवि भी अपनी एक जुदा ही सृष्टि की रचना कर सकता है और करता है । वह चाहे तो क्षुद्र जनों के स्वल्प यशःसौरभ को भी सर्वत्र फैला दे और प्रतापियों की प्रताप-राशि पर भी कलङ्क की कालिमा लगा दे । वह अपनी कवित्व-शक्ति के बल पर राज-राजेश्वरों को भी कुछ नहीं समझता । राजे—और चक्रवर्ती; राजे—कुछ सृष्टि-रचना तो कर सकते नहीं । कुछ-ही समय तक वे अपने बल और वैभव, यश और प्रताप की कला का चमत्कार दिखाकर इस लोक से तिरोहित हो जाते हैं । और कवि ? कवि की कीर्ति तो अनन्त काल तक बनी रहती है । नद, नदी, देश, महादेश और गगनचुम्बी पर्वत नष्ट होजाते हैं; परन्तु वह नष्ट नहीं होती । हां, वह अनुकूलता की प्राप्ति की मुखापेक्षिणी ज़रूर होती है ।

कवि को शक्ति और प्रभुता की इयत्ता नहीं । प्रकृत कवि क्या नहीं कर सकता ? वह रोते हुओं को हँसा सकता है और हँसते हुओं को रुला सकता है । कायरों की रगों में वह वीरता का सञ्चार कर सकता है, सोते हुओं को जगा सकता है, देश-

द्रोहियों को देशभक्त बना सकता है। और मार्गभ्रष्टों को सुमार्ग में ला सकता है। जो मदोन्मत्त नर या नरेश किसी को कुछ समझते ही नहीं उनके दर्प को कवि ही चूर्ण कर सकता है। वह चाहे तो जगद्विजयी भूपालों के कीर्तिकलाप को कलङ्कित कर दे। वह चाहे तो अज्ञात या अल्प-प्रसिद्ध नरपालों के यशः-शरीर को सदा के लिए नहीं तो चिरकाल के लिए अवश्य ही अमर कर दे। ऐसे विश्ववन्द्य कवि की महत्ता को सभी बुधवर स्वीकार करते हैं।

सत्कविता की प्राप्ति बड़े पुण्य से होती है। हृदय में कवित्व-बीज होने ही से मनुष्य सत्कवि हो सकता है। उस बीज की प्राप्ति पूर्व-जन्म के संस्कार और परमेश्वर की कृपा-विशेष ही से होती है। बीज होने से, थोड़े ही परिश्रम और शिक्षा की बदौलत, वह अङ्कुरित हो उठता है। फिर उस अङ्कुर को बढ़ते और अपनी पूर्णमर्य्यादा तक पहुंचते देर नहीं लगती। जिनको यह सौभाग्य प्राप्त होता है वही सुकवि या महाकवि की पदवी पाते हैं और संसार में अपना नाम ही नहीं अमर कर जाते किन्तु समाज को बहुत कुछ लाभान्वित भी कर जाते हैं। तथापि, इससे यह मतलब नहीं कि अन्य जन कवि हो हो नहीं सकते। जिनके हृदय में कवित्व का बीज नहीं वे भी परिश्रम, अध्ययन, अभ्यास और सत्सङ्ग की कृपा से कुछ न कुछ कवित्वशक्ति अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं। इसी से आचार्य्य दण्डी लिख गये हैं—

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्

परन्तु एक बात है। वह यह कि ये बने हुए कवि प्रकृत कवि की समकक्षता नहीं कर सकते। प्रकृत कवि थोड़े ही परिश्रम और परिशीलन से अपनी कवित्व-शक्ति को विकसित कर सकता है; बना हुआ कवि बहुत परिश्रम और परिशीलन से भी थोड़ी ही कवित्व-शक्ति प्राप्त कर सकता है। पर श्रम, शिक्षा और अध्ययन की आवश्यकता दोनों ही के लिए होती है। बिना इन बातों के प्रकृत कवि के हृदय का बीज अच्छी तरह अङ्कुरित नहीं होता और अप्रकृत कवि को साधारण कविता करने की भी स्फूर्ति नहीं प्राप्त होती।

कुछ उदाहरण लीजिए। लखनऊ के हरिविलास रस्तोगी, फर्रुखाबाद के गणेशप्रसाद हलवाई और बनारसी नामक लावनी-बाज़ की रचनाओं को देखिए। वे सरस और कवित्व-पूर्ण हैं। परन्तु यथेष्ट शिक्षा और परिशीलन के अभाव में इन प्रकृत कवियों की कवित्व-शक्ति यों ही कुछ थोड़ी सी उन्मिषित हो कर रह गई। वह अच्छी तरह बढ़ न सकी। इसके विपरीत अप्रकृत, पर शिक्षित और अभ्यासशील, कवियों के नाम देने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि उससे विवाद बढ़ने का डर है। जिन लोगों की रचनायें आजकल समाचार-पत्रों और मासिक पुस्तकों में प्रायः निकलती हैं उनमें से कई ऐसे निकलेंगे जिनकी उक्तियां, एक निर्दिष्ट सीमा तक सरस और कवित्व-व्यञ्जक ज़रूर हैं; पर उनमें वह भावप्रवणता और कल्पनाओं

का वह उड़ान नहीं जो प्रकृति कवि की रचनाओं में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है।

अतएव शिक्षा और अभ्यास की बदौलत कवित्व-बीजविरहित जन भी थोड़ी-बहुत कविता कर सकते हैं। इस दशा में, आज-कल, कवियों की वृद्धि देख कर घबड़ाने की ज़रूरत नहीं। जो सुकवि होंगे वे कुछ कर दिखावेंगे। उनकी रचनाओं का आदर होगा। जो " हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता" होंगे वे कुछ ही दिनों में थक कर आप ही चुप हो जायँगे और उनकी रचना भी शीघ्र ही लोप को प्राप्त हो जायगी।

कोई २० वर्ष पहले समस्यापूरक कवियों पर कुछ लोग व्यङ्ग्य वाक्यों की बौछार करते थे। समस्यापूर्तियों से भरी हुई मासिक पुस्तकों की भी हँसी उड़ाई जाती थी। पर अब उर्दू के कवियों और मुशायरों की देखादेखी हिन्दी के भी कवियों के खूब सम्मेलन हो रहे हैं और समस्यापूर्तियों का भी तूफ़ान सा आ रहा है। कालेजों और स्कूलों के सालाना जलसों में, छात्रालयों में, नुमायशों में, डिस्ट्रिक्टबोर्डों और कहीं कहीं म्यूनीसिपैलिटियों के अधिवेशनों तक में कवियों की कविताधारा प्रवाहित की जाती है। साहित्य-सम्बन्धिनी सभाओं और कवियों के स्वनिर्म्मित मण्डलों तथा परिषदों में तो कविता-पाठ और समस्यापूर्ति के बहाने भगवती वाग्देवी इतना प्रबल पराक्रम दिखाती हुई पधारती हैं कि प्रलयकाल की आंधी का जैसा दृश्य उपस्थित हो जाता है। उपहार और पुरस्कार का लालच इस झंझाबात के वेग को और भी बढ़ा देता है। वह और भी बहुत कुछ करता है। वह विवाद बढ़ाता है, वैमनस्य उत्पन्न

करता है, ईर्ष्याद्वेष का बीज बोता है, दलबन्दी का अस्तित्व में लाता है और विकराल कलह की उत्पत्ति का कारण होता है। यह सब होता है सही, पर कविता बेचारी उसके असर से साफ़ बच जाती है। उसकी कुछ भी हानि नहीं होती। कविता को न सही, पद्य-रचना को तो इससे स्फूर्ति ही मिलती है! कवि, सुकवि और कुकवि सभी लोग और भी अधिक उत्साह और श्रमपूर्वक अपनी अपनी रचना में लग जाते हैं। इस दफ़े न सही, अगली दफ़े पुरस्कार ज़रूर मिलेगा, यह आशा उन्हें अपने काम में पहले की भी अपेक्षा अधिक दृढ़ता और मनोयोग से नियुक्त करती है। उपहार न सही, अच्छी रचना होने से शाबाशी मिलने से भी तो कवियों का उपकार ही होता है। यदि यह भी न हो तो भी रचना का अभ्यास करते रहने से छन्दःशास्त्र में अधिकाधिक प्रवेश होता जाता है, ढूँढ़ते रहने से नये नये शब्द अवगत होते जाते हैं, मनोभावों को चुस्त-दुरुस्त भाषा में व्यक्त करने की शक्ति बढ़ती रहती है और मन की बात को थोड़े में कहने की आदत पड़ जाती है। इस दशा में कवियों की संख्या बढ़ने से कविता में कुछ विशेष उन्नति यदि न भी हो तो भी साहित्य को थोड़ा-बहुत लाभ पहुँचने की अवश्य ही सम्भावना रहती है। अतएव कवि-सम्मेलनों और समस्यापूर्तियों की वृद्धि व्यर्थ अथवा साहित्य को हानि पहुँचानेवाली नहीं कही जा सकती।

पिछले नवम्बर में एक कवि-सम्मेलन, साहित्य-सम्मेलन के साथ, वृन्दावन में हुआ। सुनते हैं, उसमें कवियों का अच्छा

जमघट रहा। कविवर ठाकुर गोपालशरणसिंहजी उसके सभापति थे। आप बोलचाल की भाषा में कविता करते हैं और सुकवि हैं। आपकी कविता सरस और प्रसादगुणपूर्ण होती है। कवि-समेल्लन में आपने जो प्रारम्भिक भाषण किया था वह अनति-विस्तृत होकर भी बड़े महत्त्व का है। व्रजभाषा और बोलचाल की भाषा में की जानेवाली कविता के सम्बन्ध के विचार जो आपने उसमें व्यक्त किये हैं वे बड़ी खूबी से किये हैं। आपने सच बात भी कह दी है, और प्रकट विरोध-भाव को बचा भी दिया है। पर, सुनते हैं,उनके इस सौजन्य को भी कुछ अहंमानी जनों ने दाद न दी। उन्होंने बोलचाल की भाषा की कविता पर आक्षेप कर डाले और कुछ आदरणीय कवियों पर कटाक्ष भी किये। सभापति ठाकुर साहब ने सम्मेलन ही के मञ्च से अपनी "व्रज-वर्णन" नामक जो रसवती और हृदयाह्लादकारिणी कविता सुनायी थी वह बोलचाल ही की भाषा में थी। अक्षेपकारियों के आक्षेपों का सबसे बढ़िया उत्तर और सबसे अच्छा समाधान उसीका पाठ था। परन्तु, खेद है, उससे भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इस कारण ठाकुर साहब को, अपने अन्तिम भाषण में, उनके कटाक्षों का उत्तर देना और उनकी तर्कत्यक्त उक्तियों का खण्डन करना पड़ा।

व्रजभाषा की कविता के पक्षपातियों को जानना चाहिए कि अब उसका समय गया। उसका तिरोभाव अवश्यम्भावी है। अब वह पुरानी प्राकृत भाषाओं के काव्य और साहित्य की तरह केवल पुस्तकों ही में पायी जायगी। समय को उसकी

चाह नहीं। यह बात हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। सौ में कठिनता से कहीं दस कवितायें अब ब्रजभाषा में लिखी जाती होंगी। उष:काल के तारों के सदृश जो अल्पसंख्यक कवि अब भी उसे अपनाये हुए हैं उनका भी लोप होने ही वाला है। समय-प्रवाह किसी के रोके नहीं रुक सकता। उसके वेग के सामने हठ, दुराग्रह, अन्धभक्ति नहीं ठहर सकती। सभी समझदार मनुष्य इस बात को हृदयङ्गम कर सकते हैं। अतएव दो-चार या दस-पाँच सज्जनों के प्रयत्न से ब्रजभाषा की शिक्षा के लिए यदि स्कूल और कालेज खुलें भी तो वे बहुत दिनों तक टिकने के नहीं। यदि ब्रजमंडल में वहाँ की भाषा या बोली सिखाने और उसके साहित्य की शिक्षा देने के लिए स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय खोला जाय तो अन्यान्य प्रान्त या मंडल भी वैसा ही कोई शिक्षालय खोलने का आग्रह क्यों न करें? तब तो बुंदेलखन्ड के लिए बुंदेलखन्डी भाषा का, बैसवारे के लिए बैसवारी का, मारवाड़ के लिए मारवाड़ी का और मिथिला के लिए मैथिली का भी एक स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय खुलना चाहिए। तब तो ख़ूब तरक्की होगी। भिन्न भिन्न भाषाओं के प्रचाराधिक्य से एकता और एकराष्ट्रीयता की वृद्धि भी ख़ूब ही होगी!

कविता सभी भाषाओं और सभी बोलियों में हो सकती है। देहात में अपढ़, अशिक्षित और गँवार आदमियों के मुँह से, उनकी बोली में, कविता सुनने को मिलती है। कभी कभी उनके गीतों में कवित्व की झलक और सुन्दर भावों का

संमिश्रण देख या सुनकर हृदय आनन्द से पुलकित हो जाता है। जब सभी भाषाओं और बोलियों में कविता हो सकती है और होती भी है तब व्रजभाषा अपवाद नहीं। जिसकी इच्छा हो वह उसी भाषा या बोली में कविता लिखे और व्रजवासियों ही को विशेषतया प्रसन्न करे। पर जो कवि बोलचाल की हिन्दी को व्यापक भाषा समझता होगा और जो यह चाहता होगा कि उसकी रचना बहुसंख्यक लोगों को पढ़ने को मिले और अन्यान्य प्रान्तों के निवासी भी उससे लाभ उठावें वह उसी में अपने हृदयोद्‌गार प्रकट करेगा। उसकी निन्दा या कुत्सा करनेवाले, जन-समुदाय के इजलास में, स्वयं ही निन्दा और कुत्सा के पात्र समझे जायँगे।

कई समाचार-पत्रों में पढ़ा कि वृन्दावन के कवि-सम्मेलन में किसीने कोई अश्लील कविता पढ़ दी जिससे कुछ श्रोता उद्विग्न हो उठे और उपस्थित महिलायें सभास्थल छोड़कर चली गयीं। विश्वास नहीं होता कि इतने बड़े सभ्यसमाज में कोई कवि अश्लील कवितायें सुनाने का साहस करेगा, फिर चाहे उसकी रुचि कितनी ही बुरी क्यों न हो। कवियों में आज-कल दलबन्दियाँ खूबही हो रही हैं। सम्भव है, किसी विपक्षी दल के एक या अनेक कवियों ने किसी शृङ्गाररसपूर्ण कविता को अश्लील कह दिया हो, जिसे सुनकर महिलायें उठ गई हों। उठकर उनके चले जाने के और भी तो कारण हो सकते हैं। सम्भव है, कवितायें उनकी समझ ही में न आती हों अथवा कोई कुरुचिपूर्ण उक्ति सुन कर उन्हें सङ्कोच हुआ

हो। अश्लीलता के समाचार तो लोगों ने उड़ा दिये, पर किसी ने उस अश्लील कविता या उसके भावों का प्रकाशन इशारे से भी नहीं किया। उसका विषय क्या था और वह रचना किसकी थी, तथा अधिकांश श्रोताओं ने उसे कैसा समझा, यह भी तो बताने की किसी ने कृपा नहीं की।

अश्लीलता उसे कहते हैं जिसे सुनकर श्रोता के हृदय में जुगुप्सा, घृणा और विशेष सङ्कोच के भावों का उदय हो। सभ्य समाज में जिस तरह की बातें करना मना है वैसी ही बातों से जुगुप्सा की उत्पत्ति होती है—जैसे लखनऊ के "चिरकीन" नामक शायर की उक्तियों से। पर क्या हिन्दी के कवियों में कोई इतने भी जघन्य कवि हैं जो घृणित बातों का उल्लेख अपनी कविता में--सो भी हज़ारों आदमियों के सामने—करें? विश्वास तो नहीं होता। अतएव अश्लीता--विषयक आरोप में और कुछ नहीं तो अतिरञ्जना ज़रूर ही मालूम होती है।

अनुमान यही कहता है कि जिस कविता या रचना पर आक्षेप किया गया है वह कुछ अधिक शृङ्गारिक रही होगी। सम्भव है, वह कुरुचि की सीमा तक पहुँच गई हो। यदि वह ऐसी ही रही हो तो परिमार्जित रुचि रखनेवाले समाज में वह न पढ़ी जाती तो अच्छा ही था। तथापि यदि वह पढ़ी ही गई थी तो वैसी अन्य कविताओं का पढ़ा जाना रोक दिया जा सकता था। इतना हो-हल्ला मचाने की क्या ज़रूरत थी? कवियों को कुछ नोटिस तो पहले से दे ही न दी गई थी कि

अमुक ही अमुक विषय या रस की कवितायें पढ़ी जायँगी। फिर रुचि-वैचित्र्य का भी तो ध्यान रखना चाहिए। सबकी रुचि एक सी नहीं होती। देवदत्त जिसे कुरुचिपूर्ण समझेगा, भवदत्त शायद उसे वैसा न समझे। एक बात और भी है। कविताओं में अनेक रसों की योजना हो सकती है। महिलाओं से क्या कह दिया गया था कि शृङ्गाररस की कवितायें न पढ़ी जायँगी? स्त्रियाँ स्वभाव ही से लज्जालु होती हैं, पुरुषों के सामने और भी अधिक। ऐसी दशा में शृङ्गार की उक्ति सुनकर यदि उन्हें सङ्कोच मालूम हो तो आश्चर्य्य नहीं। अतएव कवि-सम्मेलनों में उन्हें जाना ही न चाहिए। कुछ भी हो, कवियों का मुँह नहीं बन्द किया जा सकता। "कवयः किं न जल्पन्ति"। जिसकी खुशी हो उनकी कविता सुने; जिसकी न हो, न सुने।

शृङ्गाररस होने ही से कविता अश्लील नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो कालिदास की क्या गति होती? उनके तो प्रायः सभी काव्य और सभी नाटक पढ़ने योग्य न समझे जाते। उनमें तो बीच बीच, वीर, शान्त और करुणरस के प्रवाह में भी, शृङ्गाररस के भँवर उठा करते हैं, यथा—

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे
निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।

फिर भला श्रीकृष्ण की लीला-भूमि, वृन्दावन, में शृङ्गार-रस की कविता के श्रवण से यदि किसीको उद्वेग होगा तो श्रीमद्भागवत की कथा किसका आश्रय लेगी? वह तो मध्य-

निम्ब, चैतन्य और वल्लभ आदि सभी सम्प्रदायों के वैष्णवों की सजीवन-मूरि है। आशा नहीं, विश्वास है, मथुरा और वृन्दावन के गोस्वामिवर्य्य भी उसे बड़े ही आदर की वस्तु समझते होंगे। इसी श्रीमद्भागवत में व्यासजी ने वृन्दावनवासिनी न सही, व्रजवासिनी महिलाओं के मुख से, श्रीकृष्ण को सम्बोधन करके कहलाया है—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥

श्रीमद्भागवत में तो व्यासजी ने यहां तक कहने की कृपा की है—

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपवेशं
श्रुत्वा च तत्कणितवेणुविचित्रगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥

साहित्य सम्मेलन के कार्यकर्त्ता गोस्वामी महोदय यदि इन उक्तियों को अश्लील न समझें, और यदि कवि-सम्मेलन में पढ़ी गई कोई शृङ्गार-रस-परिप्लुत उक्ति सुनकर ही कुछ उदाराशय सज्जनों ने उसपर अश्लीलता का दोष आरोपित कर दिया हो, तो उनकी काव्यमर्मज्ञता की बलिहारी !

कांग्रेस के सप्ताह में कानपुर में दो कवि-सम्मेलन होनेवाले हैं। "होनेवाले", इसलिए कि यह नोट दिसम्बर के पहले ही

सप्ताह में लिखा जा रहा है। इसके प्रकाशन के पहले ही वे सम्मेलन हो चुकेंगे। एक ही सप्ताह या एक ही समय में दो सम्मेलन होने का कारण यह है कि कानपुर में कवियों के दो दल या दो टाट होगये हैं। वे एक दूसरे से मिलना नहीं चाहते; वे परस्पर एक दूसरे को अछूत सा समझ रहे हैं। जान पड़ता है किसीने अपने किसी प्रतिस्पर्द्धी कवि की शान का बाल बांका कर दिया है। भला कहीं कवि भी ऐसे अपमान को सह सकता है? और फिर कानपुर का कवि! व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति, भास और गुणाढ्य आदि कवियों की कृतियों की आलोचना हो सकती है, उनके दोष दिखाये जा सकते हैं, उनमें से कौन बड़ा और कौन छोटा है, इसका भी विवेचन हो सकता है। पर कानपुर के लोकातिशयी कवियों के विषय में किसीको कुछ कहने का अधिकार नहीं; उनकी कविताओं में से किसीको उत्तम, किसीको मध्यम, किसी को अधम बताने की भी आज्ञा किसीको नहीं। किसीको पुरस्कार देने और किसीको न देने का कानून भी वहां के कवियों के पिनल कोड या सिविल प्रोसिडियोर कोड में नहीं। दुनिया हँसे, हँसा करे। कवियों की दलबन्दी को विवेकशील जन निन्द्य समझें, समझा करें। कुछ भी क्यों न हो जाय; पर कवियों की शान में फरक़ न पड़े। दलबन्दी भारत के भाग्य ही में लिख सी गई है। देखिए न लिबरल, इंडिपेंडेंट, स्वराजिस्ट सभी आपस में दलबन्दी कर रहे हैं। दल के भीतर दल पैदा हो रहे हैं। फिर कवि यदि अपने फिरके अलग अलग बनावें तो क्या आश्चर्य?

कानपुर के कवियों का एक दल अखिल-भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन करने जा रहा है। अर्थात् उसके दङ्गल में सभी प्रान्तों के कवि-मल्ल अपना कर्तव्य दिखावेंगे। कांग्रेस के दिन हैं। मद्रास तक के निवासी, और किसी काम से न सही, सैर-सपाटे ही के लिए ज़रूर ही कानपुर आवेंगे। यदि वहां के कुछ कवि भी आगये और सम्मेलन में अपनी कविता सुनाने लगे तो बड़ा मज़ा आवेगा। जिस समय तामील, तेलगू, मलयाली और कनारी भाषाओं की कविताओं का पाठ होगा उस समय अन्यप्रान्तों के उपस्थित श्रोता मुंह बाये बैठे रहेंगे। घड़े में कङ्कड़ भर कर ज़ोर से हिलाने पर जैसी ध्वनि निकलती है वैसी ही ध्वनि उस कविता-पाठ के समय होती सुनकर श्रोतृसमूह यदि सम्मेलन के कार्यकर्ताओं पर पुष्पवृष्टि न करेगा तो उन्हें शतशः और सहस्रशः धन्यवाद दिये बिना तो कदापि न रहेगा।

इसके जवाब में दूसरे दल को भी अपने सम्मेलन में कुछ नवीनता लाने की चेष्टा ज़रूर करनी चाहिए। इस दफ़े न सही, फिर कभी सही। हिन्दी-भाषा से सम्बद्ध जितनी बोलियाँ हैं उन सबके कवियों को भी उसे एक बार अपने सम्मेलन में आमन्त्रित करना चाहिए। यदि ऐसे कवि विद्यमान न हों तो छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र की शिक्षा देकर उन्हें तैयार करना चाहिए। उनकी कवितायें सचमुच ही अश्रुतपूर्व अत्यन्त ही रोचक होंगी। जिस समय व्रज, बांगड़, मारवाड़ी, मालवी, बुँदेलखन्डी, बैसवारी, मिर्ज़ापुरी, बिहारी और मैथिली आदि

बोलियों की कवितायें पढ़ी जायँगी उस समय अन्तरिक्ष में देवगण भी शायद अपने अपने विमानों में बैठे हुए कविता-श्रवण करते दिखाई देंगे। अस्तु।

कवियों की महिमा अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है। वे क्या नहीं कर सकते? वे सर्वगामी, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ और सर्वकार्य्य-पटु होते हैं। अतएव प्रतिभाशाली और अप्रतिभ, उद्भट और अनुद्भट अश्लीलताद्वेषी और श्रृङ्गाररसपोषी, सदल और निर्दल—सभी कवियों को इस किङ्कर का साञ्जलिबद्ध प्रणाम। कवि कोई ऐसी वैसी चीज़ नहीं। उसे तो एक लोकोत्तर विभूति समझना चाहिए। राजतरङ्गिणीकार कल्हण की उक्ति है—

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः
कवि-प्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्म्माणशालिनः

जनवरी १९२९

१५—पठानी सिक्कों पर नागरी।

सुबुक्तगीन के वंशधर, ग़ज़नी से निकाल दिये जाने पर, ५५० हिज्री में लाहोर में आकर बस गये। उनमें से मुइज्जुद्दीन मुहम्मद बिन साम अथवा शहाबुद्दीन ग़ोरी, अपने भाई ग़यासुद्दीन के साथ, अपने चचा के द्वारा ग़ोर के एक प्रान्त का शासक नियत किया गया। ५५८ हिज्री में जब ग़यासुद्दीन ग़ोर का बादशाह हुआ तब मुइज्जुद्दीन ने अपने भाई का सेनापति होकर खुरासान और ग़ज़नी को भी जीता। अनन्तर उसको भारत के भीतर घुसने की इच्छा हुई। ५७१ हिज्री में उसने मुलतान को विजय किया; परन्तु नहरवाल के राजा से भारी हार खाई। फिर ५८७ हिज्री में थानेश्वर के मैदान में दिल्लीपति पृथ्वीराज चौहान से वह सम्पूर्णतः हराया गया। इस अपमान की कलक उसको बराबर बनी रही। अन्त में भारतवर्ष के उसी सर्वनाशी समरक्षेत्र पर उत्तरी भारत के समस्त राजदल सहित दिल्ली के चौहानराज का अधःपात मुइज्जुद्दीन द्वारा हुआ। यही मुइज्जुद्दीन मुहम्मद बिन साम, जिसे शहाबुद्दीन भी कहते हैं, दिल्ली की पठान बादशाहत की नींव डालनेवाला हुआ। इस महाभारत से भारतवर्ष इस तरह वीररहित हो गया कि मुइज्जुद्दीन का आजन्म दास कुतुबुद्दीन, अपने स्वामी के चले जाने पर, इस देश को जीत कर एकछत्र राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ। ५९९ हिज्री में अपने भाई के मर जाने

पर मुइज्ज़ुद्दीन ग़ज़नी का शासक हुआ। तीन वर्ष बाद, ६०२ में, जिस मुहम्मद बिन साम के पुरखे ग़ज़नी से भाग कर भारत में आ छिपे थे, उसी भारत को जिसने छल-छद्मपूर्वक आत्मसात् किया और देश जय करने में छल ही जिसका महा साधन और बल था वही मुहम्मद गद्दी पाने के तीन ही वर्ष बाद अपने ही शिविर में जङ्गली गक्करों से मारा गया।

इसी मुहम्मद से लेकर इब्राहीम लोदी तक, पठानों ही के विजय-क्षेत्र कुरुक्षेत्र पर मुग़लमहीप बाबर द्वारा उनके पतन तक की राजमुद्राओं पर नागरी अक्षर छपे हुए हैं। उन्हीं में से कुछ का वर्णन यहां पर किया जाता है। पठानों के बाद मुग़लों के समय में जब हिन्दी की जगह उर्दू नाम की एक नई हिन्दी का प्रचार हुआ तभी से सिक्कों पर नागरी का छपना भी बन्द हुआ। *

पहला बादशाह मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद बिन साम (शहाबुद्दीन गोरी) (११९३-१२०५ ईस्वी)

---

* मुसल्मान बादशाहों में नागरी अक्षरों का प्रचार महमूद ग़ज़नवी के समय से है। लाहौर के आस पास का देश बहुत काल तक महमूद और उसके वंशजों के अधीन था। उसने लाहौर का नाम महमूदपुर रक्खा था। वहीं से उसने अपने नाम का सिक्का चलाया था। किसी किसीका मत है कि लाहौर के पास महमूदपुर नाम का एक पृथक् शहर महमूद ने अपने नाम से बसाया था। वहीं उसके सिक्के ढाले जाते थे। इन सिक्कों में से एक सिक्का चांदी का है। उसका वज़न ४५ ग्रेन है। वह ४१८ हिज्री में महमूदपुर की टक-

(१)

चांदी तांबा मिला हुआ २६ ग्रेन * नाल। सिन्धटकसाल।

ऊपर—अरबी

पृष्ठ—अश्वारोही। स्री हंमोरः

(२)

चाँदी—तांबा ४६ ग्रेन। दिल्ली टकसाल।

ऊपर—स्री महमद सामे

पृष्ठ—स्री हंमीरः

साल में ढाला गया था। उसके नीचे की ओर अरबी में महमद का नाम और खिताब वगैरह है और ऊपर की ओर नागरी अक्षरों में है—

अव्यक्त मेक

मुहम्मद अवतार

नृपति महमूद

और उसके किनारे किनारे चारों ओर यह है—

अव्यक्तीय डामे अयं टंकं तता महमूदपुर संवती ४१८

एक और चांदी का ऐसा ही सिक्का मिला है जिस पर ये अक्षर हैं—

अयं टंकं घटे तता जिकीयेर संवती ४१९।

इन वाक्यों का संस्कृत शुद्ध नहीं है; परन्तु महमूद के लिए संस्कृत को आश्रयदेना ही आश्चर्य्य की बात है।

* एक रत्ती में १$\frac{7}{8}$ ग्रेन होते हैं।

(३)

चाँदी—ताँबा । ४५ ग्रेन । पेशावर टकसाल ।

ऊपर—बैल ।

...... द् सामे ।

पृष्ठ—अश्वारोही । श्री हंमीरः

भाले के पास नीचे से ऊपर को पढ़ने से फ़ारसी में "परशोर" (पेशावर) देख पड़ता है ।

(४)

चाँदी—ताँबा । ४६ ग्रेन । ग्वालियर टकसाल ।

ऊपर—महमद् सामि

पृष्ठ—अश्वारोही ।

बैल, अश्वारोही और 'हंमीर' ।

राजा लोग बैल और अश्वारोही अपने सिक्कों पर देते थे । "हंमीर," "अमीर" शब्द के लिए है । जब मुहम्मद बिन साम ने कन्नौज लिया तब वहां के स्वर्ण सिक्कों पर भी उसने एक ओर कनौज का राजचिह्न "लक्ष्मी" रहने दिया और दूसरी ओर जहां राजों के नाम छपते थे—

श्री महमद् बेने साम

अथवा

श्री हमीर महमद् साम

छापा । अर्थात् उसने नये सिक्के न चला कर पुराने ही ढांचे के सिक्के अपने नाम देकर जारी किये ।

दूसरा बादशाह

कुतबुद्दीन ऐबक [१२०६-१२१०]

मुइज्जुद्दीन के कोई लड़का न था। इस कारण एक ग़ुलाम को दिल्ली और दूसरे को ग़ज़नी मिली। वह अपने तुर्क ग़ुलामों ही को बेटा समझता रहा। इन ग़ुलामों ने इतनी योग्यता तो अवश्य दिखाई कि उसके मरने पर भी उसीके नाम के सिक्के इन्होंने जारी रक्खे। कुतुब मीनार पर एक जगह छोड़ कर ऐबक ने अपने को मालिक (बादशाह) कहीं नहीं कहा। अतः कुतुबुद्दीन ने कोई सिक्का अपने नाम का नहीं चलाया।

तीसरा बादशाह आराम शाह [१२१०]

ऐबक का पुत्र आराम पूरा एक वर्ष भी राज्य न कर सका। उसके तांबे के सिक्के मिले हैं जिनपर उसने अपने को अरबी में विजयी आराम शाह सुलतान लिखा है। वह अल्तमश से, जो बदाऊं का सूबेदार था, मारा गया। उस समय सिन्ध नासिरुद्दीन के हाथ में और लखनावती अली-मर्दन के हाथ में थी।

चौथा बादशाह शमसुद्दीन अल्तमश [१२१० से १२३५ तक]

यह ऐबक का गुलाम और दामाद था। बड़ा प्रतापी हुआ। इसकी सङ्गमर्मर की क़ब्र, अब तक, कुतुबमीनार से दक्षिण पश्चिम को, वर्तमान है। बग़दाद के ख़लीफ़ा से इसे ख़िताब मिला। चङ्गेज़ इसीके समय में हुआ। रण-

थम्भौर और ग्वालियर इसने तोड़े। ग्वालियर के लिए इसको ११ महीने लड़ना पड़ा। अल्तमश के सिक्कों के दो एक नमूने ये हैं—

(१)

चांदी—तांबा। ४८ ग्रेन। दिल्ली टकसाल। १२३१ ई०

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
घुड़सवार	बैल
स्त्री हंमीर	सुरितण स्त्री समसदिण
	१२८८ (सं०)

सुरितण से अभिप्राय सुल्तान से और समसदिण से शमसुद्दीन से है। संस्कृत में धर्म्म को वृष (बैल) कहते हैं। इसी लिए शायद हिन्दू राजा लोग अपने सिक्कों पर बैल का चित्र रखते थे। यह प्रथा मुसलमानों ने हिन्दुओं ही से सीखी।

अल्तमश ने जब रनथम्भोर विजय किया तब उसे बड़ी खुशी हुई। उस किले की जीत का वृत्तान्त तबक़ातेनासिरी में इस प्रकार लिखा है—

व दर शहूर सन सलासा व अशरीं व सतम आया अज़ीमते फतेह किला रतनपूर मुसम्मिक फरमूद। व आँ किला दर हिसानत व मतानत व इस्तेहकाम दर तमामे मुमालिक हिन्दोस्तान नज़कूर व मशहूर अस्त। दर तवारीख़ अहलेहिन्द चुनीं आउरदा अन्द के हफताद बादशाह बपाये आँ किला

आम्दा बूदन्द । व हेच यकेरा फतेह औं हिसार मयस्सर न शुद । बाद अज़ मुद्दत चन्द माह दर शहर सलाना व अशरां व सतमआया बर दस्त बन्दगाने ऊ बफ़ज़ले आफरीदगार फतेह शुद ।

भावार्थ—६२३ हिज़्री में उसने (अल्तमश ने) रनथम्भार विजय करने का पक्का इरादा किया। दृढ़ता में यह क़िला सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध है। हिन्दुओं के इतिहास में लिखा है कि ७० बादशाहों ने इस पर धावा किया; परन्तु एक भी इसे न ले सका। कई महीने की लड़ाई के अनन्तर, ६२३ हिजरी में, यह क़िला ईश्वर की कृपा से, उनके बन्दों के हाथ आया।

इस विजय के उपलक्ष में अल्तमश ने एक नया सिक्का ढलाया। वह इस प्रकार का था—

[२]

चांदी—तांबा। ५२ ग्रेन। १२२६ ई० (१२८३ सं०)

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
बीच में – अरबी में	श्री सुलता
अल्तमश का नाम	लितितिमिसि
किनारे में ढलने की तरीख़ आदि	सं० १२८३

टकसाल वालों से तुर्की शब्द अल्तमश नागरी में उच्चारण करते और नक़्श करते नहीं बना। इसलिए उन्होंने लितितिमिसि कर दिया।

[३]

तांबा । २८ ग्रेन । प्रायः अप्राप्य

एक तरफ़ अरबी में	दूसरी तरफ़
शम्श	श्री समसदीन

जब तक शमसुद्दीन अल्तमश ने देहली में बादशाहत क तब तक सात विदेशी बादशाह या सेनापति ऐसे हुए जिन्होंने हिन्दुस्तान का कुछ पश्चिमी भाग अपने अधिकार में रक्खा और अपने नाम का सिक्का चलाया। उनके नाम ये हैं—

१ ताजुद्दीन इल्दज़	४ चंगेज़ खां
२ अलाउद्दीन मुहम्मद ख़ारिज़मी	५ हसन क़ारलघ
	६ उज़बेग पाई
३ जलालुद्दीन मनकबरनी	७ नासिरुद्दीन कुबाचा

१—ताजुद्दीन इल्दज़। यह पहले पठान बादशाह मुहम्मद बिन साम की तरफ़ से करमान और ग़ज़नी का सूबेदार था। वहां से जब इसे अलाउद्दीन मुहम्मद ख़ारिज़मी ने निकाल दिया तब यह पञ्जाब में आया और यहां इसने अपने नाम का सिक्का चलाया। इसके कई सिक्के पाये गये हैं। उनमें से दो में, एक ओर उसका नाम और ख़िताब आदि है और दूसरी ओर एक घुड़सवार के नीचे "श्री हंमीरः" है।

२ अलाउद्दीन मुहम्मद ख़ारिज़मी। ग़ज़नी, हिरात और पेशावर आदि की टकसालों से इसने कई प्रकार के सिक्के, सोने और चादी के, चलाये। उन सब पर धर्म्म के निशान

वृषभराज विराजमान हैं। एक में नागरी अक्षरों में "सम" और दूसरे में "श्री हंमीरः" का भी पता मिलता है।

३ जलालुद्दीन मनक्कबरनी। इसका एक चांदी और तांबे का सिक्का बहुत घिसा हुआ मिला है। उस पर केवल "श्री" पढ़ा जाता है। दूसरा अच्छी दशा में है। वह चांदी और तांबे का है और तौल में ५४ ग्रेन है। उस पर है:—

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
घुड़सवार	बैल
श्री हंमीरः	श्री जलालदीं

४—चंगेज़खां के जितने सिक्के मिले हैं उन पर नागरी नहीं है। नागरी वाले भी सिक्के शायद जारी रहे हों।

५ हसन क़रलघ। इसके किसी किसी सिक्के पर राजपूत सवार और "श्री हंमीरः" है। और किसी किसी पर बैल और "श्री हंमीरः" हैं, एक पर "श्री हसन कुरल" नक़्श किया हुआ है।

६—उज़बेग पाई के दो ही सिक्के मिले हैं। उन पर नागरी नहीं है। उनके एक तरफ़ "ज़रब मुलतान" और दूसरी तरफ़ "यसबक़ पाई" है।

७—नासिरुद्दीन कुबाचा। यह उच का गवर्नर था। उच्च पञ्जाब में एक प्रसिद्ध राजधानी थी। वहीं यह स्वाधीन हो गया और अपने नाम का सिक्का चलाने लगा। सरहिन्द से भक्खर तक का देश इसके अधिकार में था। उसकी गवर्नरी

मुहम्मद बिन साम ने इसे दी थी। "श्री हंमीरः" तो इसके कई सिक्कों पर है। परन्तु एक में इसका नाम भी है। यथा—

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
सवार	बैल
श्री हमीरः	श्री कुबाचा सुरिता

जिस सिक्के पर जगह रही है उस पर "सुरिता" के आगे "ण" रखकर "सुरिताण" (सुल्तान) पूरा कर दिया गया है।

पांचवां बादशाह रुक्नुद्दीन फीरोज़शाह

(१२३५—३६ ई०)

यह बड़ा ही ऐय्याश और दुःशील बादशाह था। इसने कुल ६ महीने राज्य किया। इसके एक सिक्के में वही "श्री हंमीरः" है। इसका दूसरा सिक्का बहुत दुर्लभ है। वह ५१ ग्रेन तौल में है। धातु उसकी चाँदी-ताँबा है। उस पर है—

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
सवार	भूल-सहित बैल
श्री हंमीरः	सुरिताण श्री रूकणदीण

छठी बादशाहज़ादी रिज़ीया (२३६—३९ ई०)

इसके पहले तुर्किस्तान में मलिका तुरकान और तुरकाने खातून नाम की दो स्त्रियां राज्यासन पर बैठ चुकी थीं। परन्तु हिन्दुस्तान के लिए एक स्त्री का बादशाह होना यह पहला ही उदाहरण है। रिज़ीया अल्तमश की लड़की थी। रुक्नुद्दीन को उसकी माँ ने गद्दी से उतार दिया और माँ को हटा कर रिज़ीया

सिंहासनासीन हुई। वह परदा न करती थी; घोड़े पर सवार होती थी; दरबार में आती थी; और अपने करने के काम ख़ुद करती थी। जलालुद्दीन याक़ूत नाम का एक हबशी उसका प्रेमपात्र हो गया था। सरहिन्द के गवर्नर इख़्तियारुद्दीन से जब रिज़ीया का युद्ध हुआ तब वह हबशी मारा गया। रिज़ीया भी क़ैद हो गई। इख़्तियारुद्दीन रिज़ीया को क़ैद करके देहली की ओर बढ़ा। वहां वह भी मारा गया और रिज़ीया भी मारी गई। रिज़ीया के कई सिक्के मिले हैं। उनमें से किसी किसी के एक ओर सवार और "श्री हंमीर," है और दूसरी ओर— السلطان الاعظم رضية الدنيا و الدين (अस्सुलतानुलाज़म रिज़ीयद्दुनिया व उद्दीन) है। इस से जान पड़ता है कि रिज़ीया उस का नाम न था; यह उसकी पदवी (उपाधि, ख़िताब) थी

सातवां बादशाह मुइज़्ज़ुद्दीन बहराम शाह

(१२३९—४२ ई०)

रिज़ीया के मारे जाने पर बहरामशाह बादशाह हुआ। वह अल्तमश का पुत्र था। वह भी अपने भाई के समान बादशाह होने के सर्वथा अयोग्य था। अपने लड़कों की अयोग्यता का पूरापूरा ज्ञान अल्तमश को था। यह बात उसने साफ़ कह दी थी। वह रिज़ीया को बादशाहत देना चाहता था; परन्तु बलवा होने के भय से अपने जेठे लड़के ही को उसने युवराज बना लिया था। तथापि रिज़ीया से वह बहुत प्रसन्न था; उससे राज्य-सम्बन्धी काम भी वह लेता था।

बहरामशाह के वज़ीर ने उसे क़ैद करके मरवा डाला।

इसके कई सिक्कों पर नागरी ने स्थान पाया है। उन में से एक की रचना ऐसी है—

चाँदी और ताँबा; तौल ५४ ग्रेन।

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
सवार	बैल
श्री हंमीर	सुरिताण श्री मुअजंदी

आठवां बादशाह अलाउद्दीन मसऊद

(१२४१—१२४६ ई०

बहरामशाह के मरने पर इज्जुदीन बलबन गद्दी पर बैठा। वह अल्तमश का दामाद था। परन्तु वह कुछ ही घन्टों में तख़्त से उतार दिया गया। रुक्नुद्दीन फीरोज़ के पुत्र अलाउद्दीन मसऊद ने राज्य पाया। तब तातनासिरी नामक इतिहास का लिखनेवाला मिनहाजुस्सीराज उस समय देहली में क़ाज़ी था। वहां से वह बङ्गाल के गवर्नर तुग़न खाँ के यहां चला गया। वहां का गवर्नर, उस समय, लखनावती में रहता था। मिनहाजुस्सीराज ने पठान बादशाहों का बहुत ही अच्छा इतिहास लिखा है। बहुत सा वृत्तान्त उसने आँखों देखा लिखा है। अलाउद्दीन मसऊद के कई सिक्कों पर "श्री हंमीर:" है। परन्तु एक में विशेषता है—

चाँदी-ताँबा, तौल ५० ग्रेन।

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
शाहू का नन्दो	सवार
सुरिताण श्री अलावदिण	श्री खलीफ

इस बादशाह का एक और सिक्का मिला है। उस पर "अलादिन" है।

नवां बादशाह नासिरुद्दीन महमूद (१२४६—६५ ई०)

यह बादशाह विद्या का बड़ा व्यसनी था। यह बहुधा क़ुरान की नक़ल किया करता था। लिखने में इसको बड़ा अभ्यास था। हलाकूशाह मुग़ल के भेजे हुए दूत इसी के समय में सब से पहले पहल देहली आये। इसके सिक्कों में भी "श्री हमीर" पाया जाता है। १० रजब ६५२ हिजरी का इसका एक शिलालेख अलीगढ़ के एक मीनार पर था; परन्तु ग़दर में उसे किसीने नष्ट कर दिया।

दसवां बादशाह ग़यासुद्दीन बल्बन (१२६६—८७ ई०)

इसीके समय में पहले पहल सोनेका बादशाही सिक्का जारी हुआ। इसका ४७½ ग्रेन का एक तांबे का सिक्का मिला है। उस पर है—

एक तरफ़	दूसरी तरफ़
السلطان الاعظم غياث الدنيا و الدين [अस्सुल्तानुलाज़म ग़यासुद्दुनिया व उद्दीन]	बीच में بلبن (बलबन) किनारे में – श्री सुलतां ग़यासुदीं।

देहली के पास एक क़सबा पालम है। उस में हरिपाल के पुत्र उटर की बनवाई हुई एक बावली है। उसमें एक लेख था जो सिपाही विद्रोह के समय नष्ट हो गया। इस

लेख में ग़यासुद्दीन तक जितने मुसलमान बादशाह इस देश में हुए सब के नाम इस प्रकार खुदे हुए थे। यथा—

१	शहाबुद्दीन	
२	कुतबुद्दीन	(पदवी "भूपाल")
३	शमसुद्दीन	
४	फ़ीरोज़शाह	(पदवी "भूमिपति")
५	जलालुद्दीन	(रिज़ीया)
६	मौज़ुद्दीन	(पदवी "नृप")
७	अलाउद्दीन	(पदवी "नृपति")
८	नासिरुद्दीन	(पदवी "पृथ्वीन्द्र")
९	ग़यासुद्दीन	(पदवी "श्री हम्मीर")

इस नामावली में तीसरा बादशाह आरामशाह छोड़ दिया गया है और रिज़ीया का नाम जलालुद्दीन लिखा है।

ग्यारहवां बादशाह मुइज़्ज़ुद्दीन कैकुबाद
(१२८७–९० ई०)

तुर्की वंश का यह अन्तिम बादशाह हुआ। बलबन का पौत्र और नासिरुद्दीन महमूद का यह पुत्र था। नासिरुद्दीन बङ्गाल का गवर्नर था। वह वहीं रहा। कैकुबाद देहली का बादशाह हो गया। यह अत्यन्त विलासशील था। इसी कारण इसे बहुत जल्द पक्षाघात रोग हो गया। इसे इसके मन्त्री जलालुद्दीन ख़िलजी ने मरवा डाला और आप देहली का बादशाह हो गया। कैकुबाद के सिक्कों में से एक सिक्का ऐसा

मिला है जिसकी एक तरफ़ फ़ारसी में کیقباد (कैकुबाद) ऊपर और "श्री सुलतां मुज्जुदीं" नीचे है।

११९२ से १५५८ ईस्वी तक देहली में ४० बादशाहों ने बादशाहत की। ये ४० बादशाह पृथक् पृथक् ६ खानदानों के थे। इन ६ में से तुर्की खानदान के बादशाहों के सिक्कों का वर्णन हो चुका। इसके आगे खिलजी, तुग़लक और लोदी आदि खानदान के सिक्कों का वृत्तान्त लिखने लायक है। क्योंकि अगले बादशाहों के सिक्कों में भी अनेक सिक्के ऐसे मिले हैं जिन पर नागरी अक्षरों को स्थान दिया गया है। इससे सिद्ध है कि मुसलमान बादशाहों ने नागरी-लिपि को इस देश की प्रधान लिपि मानी थी। यदि ऐसा न होता तो वे कदापि इस लिपि का व्यवहार अपने सिक्कों पर न करते। बड़े खेद और आश्चर्य की बात है कि भारत की वर्त्तमान गवर्नमेंट ने राजराजेश्वर के नवीन रुपए पर नागरी अक्षरों को न रख कर फ़ारसी अक्षरों में یک روپیہ (यक रुपया) रक्खा है। यह अनुचित है। इसका शीघ्र ही संशोधन होना चाहिये। फ़ारसी लिपि की अपेक्षा नागरी लिपि ही के जाननेवाले सब प्रान्तों में अधिक हैं। इसलिए उसी लिपि का प्रयोग सिक्कों पर होना चाहिए।

नवम्बर १९०४

१६ वक्तव्य

[कानपुर के तेरहवें साहित्य सम्मेलन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति की हैसियत से किया गया भाषण]

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥ १ ॥
करबदरसदृशमखिलं भुवनतलं यत्प्रसादतः कवयः।
पश्यन्ति सूक्ष्ममतयः सा जयति सरस्वती देवी ॥ २ ॥

औपचारिक।

प्यारे भाइयो,

कानपुर-नगर के निवासियों ने आपका स्वागत करने के लिए मेरी योजना की है। मुझे आज्ञा दी गई है कि मैं आपका स्वागत करूं। अतएव मैं आपका स्वागत करता हूं; हृदय से स्वागत करता हूं; बड़े हर्ष, बड़े आदर और बड़े प्रेम से स्वागत करता हूं—

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वोऽस्तु सज्जनाः
स्वागतं वो बुधश्रेष्ठाः स्वागतं वः पुनः पुनः

अनेक कष्ट और अनेक असुविधायें सहन करके आपने अपने दर्शन से हम लोगों को जो कृतार्थ किया है उसके लिए हम, कानपुर के नागरिक, आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। हमारे प्रणयानुरोध की रक्षा के लिए, आपने यहां पधारने की जो कृपा की है तदर्थ हम आपको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

मैं ही क्यों, इस श्रेयोवर्धक काम के लिए चुना गया, इसका कारण मैं क्या बताऊं। बताना चाहें तो वही महाशय बता सकते हैं जिन्हों ने इस निमित्त मेरी नियुक्ति की है। जो इस नगर का निवासी नहीं; रहने के लिए जिस के अधिकार में निज की एक फूस की कुटिया तक नहीं; वाहन के नाम से जिसके पास अपने दो शक्तिहीन, निर्बल और कृश पैरों के सिवा और कुछ भी नहीं—वह आपका स्वागत करके आपको आराम से कैसे रख सकता है? आप का आतिथ्य करने और आपको आराम से रखने की लौकिक सामग्री यद्यपि मेरी पहुंच के बाहर है, तथापि मेरे पास एक वस्तु की कमी नहीं। वह है आपके ठहरने के लिए स्थान। भगवान् मधुसूदन का हृदय इतना विशाल है कि युगान्त में समस्त लोक, विस्तार सहित, उसमें समा जाते हैं। परन्तु जब तपोधन नारदजी उनको दर्शन देने आये तब भगवान् के उस उतने विशाल हृदय में भी, मुनिवर के आगमन से उत्पन्न, आनन्द न समा सका; वह छलक कर बाहर बह निकला—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः॥

परन्तु, विश्वास कीजिए, आपको ठहराने के लिए मैंने अपने हृदयस्थल को भगवान् के हृदय से भी अधिक विशाल बना लिया है। आप वहां सुख से रह सकते हैं। मेरे जिस हृदय में आपके सम्बन्ध का मेरा भक्ति-भाव, अपनी समस्त सेना साथ लिए हुए, मुद्दतों से डेरा डाले पड़ा है वहां जगह

की कमी नहीं। वहां तो आपको ठहराने के लिए सब तरह की तैयारी बहुत पहले ही से हो चुकी है।

मैं एक व्यक्तिगत निवेदन करने के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूं। हिन्दी का यह तेरहवां साहित्य-सम्मेलन है। इसके पहले एक को छोड़ कर और किसी सम्मेलन में अभाग्यवश मैं नहीं उपस्थित हो सका। अस्वस्थता के सिवा इसका और कोई कारण नहीं। मैं दूर की यात्रा नहीं कर सकता और बाहर बहुत कम रह सकता हूं। परन्तु मेरे सुनने में आया है कि कुछ लोगों ने मेरी अनुपस्थिति का कुछ और ही कारण कल्पित किया है। वे समझते हैं कि मेरे उपस्थित न होने का कारण है मेरा ईर्ष्या-द्वेष, मेरा मद और मत्सर, मेरा गर्व और पाखण्ड। अतएव मैं चाहता था कि सम्मेलन के प्रधान कार्य्य-कर्त्ता मुझे कोई ऐसा काम देते जिससे मुझ पर गुप्त रीति से किये गये इन निर्मूल दोषारोपणों का आपही आप परिहार हो जाता। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए समागत सज्जनों की सेवा का काम मुझे दिया जाता। तो मैं आपको अपना इष्टदेव समझ कर पादप्रक्षालन से आरम्भ करके आप की षोडशोपचार पूजा करता। ऐसा करने से मेरा पूर्वनिर्दिष्ट दोषारोपजात धब्बा भी धुल जाता, सम्मेलन के विषय में मेरे भावों का भी पता लग जाता और साथ ही इस जराजीर्ण अशक्त शरीर से पुण्य का सम्पादन भी कुछ हो जाता परन्तु इस पवित्र काम से मैं वञ्चित रक्खा गया और अनुरक्ति के वशीभूत होने से इस वञ्चना को भी मैंने अपने सौभाग्य का

सूचक ही समझा। तथापि मन मेरा फिर भी नहीं मानता। अतएव मैं आपकी मानसिक अर्चना करता हूं; आप भी कृपा कर के उसे उसी भाव से ग्रहण कीजिए। आसन अपना तो आपके लिए मैंने पहलेही छोड़ दिया है। स्वागत भी मैं आपका कर चुका। आनन्दवाष्पों से मैं अब आपके पैर धोता हूं। मेरी इन उक्तियों में प्रयुक्त वर्णों में यदि कुछ भी माधुर्य हो तो मैं उसी को मधुपर्क मान कर आपको अर्पण करता हूं। विनीत वचनों ही को फूल समझ कर आप पर चढ़ाता हूं, और नम्रशिरस्क होकर प्रार्थना करता हूं—

वन्दे भवन्तं भगवन् प्रसीद

आपके आतिथ्य और आप के स्वागत के लिए जो प्रबन्ध किया गया है वह, मैं जानता हूं, अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण है। उसमें बहुत तरह की न्यूनतायें हैं। पर उन त्रुटियों और न्यूनताओं का कारण कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं। उनका कारण कुछ तो असामर्थ्य, कुछ अवान्तर बातें और कुछ अनुभव की कमी है। परन्तु त्रुटियों और न्यूनताओं के होने पर भी, मैं आप को विश्वास दिलाता हूं कि आपके विषय में कानपुर-नगर के निवासियों के हृदयों में हार्दिक भक्तिभाव और प्रेम की कमी नहीं, श्रद्धा और समादर की कमी नहीं, सेवा और शुश्रूषणा की कमी नहीं। आशा है, आप हमारे आन्तरिक भावों से अनुप्राणित होकर हमारी त्रुटियों पर ध्यान न देंगे, क्योंकि—

भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः

आपके आतिथ्य के लिए किया गया प्रबन्ध यदि आप

को कुछ भी सन्तोषजनक और कुछ भी सुभीते का हो तो उसका श्रेय स्वागत-समिति के कार्यकर्त्ताओं, सम्मेलन के सहायकों और स्वयंसेवकों को है। रहीं त्रुटियां और न्यूनतायें सो उनका एकमात्र उत्तरदाता, अतएव सब से बड़ा अपराधी मैं हूं। उसके लिए जो दण्ड आप मुझे देना चाहें, निःसङ्कोच दें। क्योंकि अपनी असमर्थता को जानकर भी मैंने इस कार्य भार को अपने ऊपर ले लिया है। और जान बूझकर अपराध करनेवाला औरों की अपेक्षा दण्ड का अधिक अधिकारी होता है।

२—कानपुर की स्थिति।

जिस नगर में आप पधारे हैं वह अभी कल का बच्चा है। न वह बम्बई और कलकत्ते की बराबरी कर सकता है, न लाहौर और लखनऊ की, न काशी और प्रयाग की, न भागलपुर और जबलपुर की। सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तो इस का अस्तित्व तक न था। १८०१ ईस्वी में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अवध के नवाब वज़ीर से कुछ ज़िले पाये, जब उसने यहां पर एक मिलिटरी पोस्ट (Military Post) क़ायम किया—उसने इस जगह को अपनी छावनी बनाया—और कुछ फ़ौज यहां रख दी, तब से इसका नाम कम्पू पड़ा और वही कालान्तर में कानपुर हो गया। इस नगर के आसपास जो मौजे थे अथवा हैं उनमें सीसामऊ सब से अधिक पुराना है और अब तक बना हुआ है। आठ सौ वर्ष से भी अधिक समय हुआ, कानपुर के आसपास का भू-भाग

कन्नौज के राजा जयचन्द्र के पितामह गोविन्दचन्द्र के अधिकार में था। वह कोटि नाम के परगने या तअल्लुक़े के अन्तर्गत था। इसका पता एक दानपत्र से लगा है, जो कुछ समय पूर्व, इसी ज़िले के छत्रपुर नामक गांव में मिला था। उस में लिखा है कि ससईमऊ (अर्थात् वर्त्तमान सीसामऊ) गांव को गोविन्द-चन्द्रदेव ने साढुल शर्म्मा नाम के एक ब्राह्मण को विक्रम संवत् ११७७ में दे डाला था।

तब से इस प्रान्त में क्या क्या परिवर्त्तन हुए, इसका विश्व-सनीय ऐतिहासिक वर्णन मेरे देखने में नहीं आया। जो कुछ ज्ञात है वह इतना ही कि जब से अँगरेज़ी छावनी यहां क़ायम हुई तभी से इस नगर की नोंव पड़ी। नया होने पर भी व्यापार और व्यवसाय में यद्यपि इस नगर ने बड़ी उन्नति की है तथापि आज से कोई तीस पैंतीस वर्ष पूर्व, यहां दो चार मनुष्यों को छोड़ कर और कोई हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का नाम तक शायद न जानता था। इस भाषा और इस भाषा के साहित्य के बीजवपन का श्रेय परलोकवासी पण्डित प्रताप-नारायण मिश्र को है। उन्हीं के पुण्यप्रताप से आज कानपुर को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि हिन्दी-साहित्य की अभि-वृद्धि के साधनों पर विचार करने के लिए आपने, मुड़िया-लिपि के इस दुर्भेद्य दुर्ग में, पधारने की कृपा की है।

यहां पर हिन्दी-साहित्य का बीज-वपन हुए यद्यपि थोड़ा ही समय हुआ तथापि मातृभाषा-भक्तों और साहित्य-सेवियों की कृपा से वह अङ्कुरित होकर शीघ्र ही पल्लवित होने के

लक्षण दिखा रहा है। जिसकी रक्षा का भार मनुष्यरूप में गणेश और शिव, कृष्ण और कौशिक, राम और रमा, तथा नारायण आदि अपने ऊपर लें, और फूलों के उद्गम की आशा से जिसका सिञ्चन और भी कितने ही देवोपम सज्जन स्नेहपूर्वक करें उस के किसी समय फूलने फलने में क्या सन्देह ? खेद इतना ही है कि जिस पुरुष-रत्न ने अपनी साधना के बल से हिन्दी-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा इस नगर में की थी वह सौभाग्यशाली साहित्यसेवी इस समय यहां उपस्थित नहीं। भगवान उसका कल्याण करे।

इस नगर के आधुनिक होने पर भी, यहां हिन्दी-साहित्य की उन्नति के साधनों की कमी नहीं। आशा है, आप की हित-चिन्तना और आपके परामर्श से उनकी संख्या और भी बढ़ जायगी और हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए नये नये उपायों की योजना हो जायगी। जो लोग यहां अपने बहीखाते का सारा काम मुड़िया लिपि में करते हैं उन में भी कितने ही उदारहृदय सज्जन हिन्दी से प्रेम रखते हैं और उसके साहित्य की समुन्नति के लिए बहुत कुछ दत्त-चित्त रहते हैं। हिन्दी के कवियों को, समय समय पर, जो पारितोषिक दिये जाते हैं और सस्ते मूल्य पर जो अच्छी अच्छी पुस्तकें निकाली जा रही हैं वह भी इन्हीं के कृपाकटाक्ष का फल है। अतएव कई प्रकार की त्रुटियां होने पर भी, इस नये नगर में भी, ऐसी अनेक बातें हैं जो यह आशा दिलाती हैं कि आप के उत्साहदान और सदनुष्ठान से साहित्य-सेवा का बहुत कुछ काम यहां भी हो सकता है। यही सब बातें ध्यान में रखकर, उक्त

आकांक्षाओं की प्रेरणा से, आप यहां पर आदरपूर्वक आमन्त्रित किये गये हैं। भगवती, वाग्देवी उन आकांक्षाओं को फलवती करें।

३—मातृभाषा की महत्ता।

जिस निमित्त यह अनुष्ठान किया गया है और आज तेरह वर्षों से बराबर होता आ रहा है उसकी महत्ता बताने की विशेष आवश्यकता नहीं। क्योंकि मेरी अपेक्षा आपको उसका ज्ञान अधिक है। इसलिए मैं दो ही चार विशेष विशेष बातों पर आप से कुछ निवेदन करूंगा।

सभ्य और शिक्षित संसार में, आज तक आब्रह्मस्तम्भ-पर्य्यंत ज्ञान का कितना और किस प्रकार सञ्चय हुआ है, और वह सञ्चय किन किन भाषाओं और किन किन ग्रन्थमालाओं में निबद्ध हुआ है, इसका विवेचन करने की शक्ति मुझ में नहीं। हिन्दी की माता कौन है? मातामही कौन है? प्रमातामही कौन है? किस समय उसका उद्भव हुआ? कैसे कैसे विकास होते हुए उसे उसका आधुनिक रूप मिला? इस सब के विवेचन का भी सामर्थ्य मुझ में नहीं। हिन्दी के कौन कवि, लेखक या उन्नायक कब हुए? उन्होंने उसकी कितनी सेवा या उन्नति की? कब कौन ग्रन्थ उन्होंने लिखे? उन से हिन्दी-साहित्य को कितना लाभ पहुंचा? इसके निरूपण को भी योग्यता मुझ में नहीं। और, इन सब बातों की चर्चा करने की आवश्यकता भी मैं नहीं समझता। क्योंकि इस विषय की बहुत कुछ चर्चा सम्मेलन के भूतपूर्व अधिवेशनों में हो चुकी है।

अब भी यदि इसकी आवश्यकता होगी तो इस अधिवेशन के अधिष्ठाता महाशय इस विषय में आपको अपना महत्वपूर्ण वक्तव्य सुनावेंहींगे और यह भी बतावेंगे कि राष्ट्र से राष्ट्र-भाषा का क्या सम्बन्ध है।

मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि मनुष्य की मातृभाषा उतनी ही महत्ता रखती है जितनी कि उसकी माता और मातृभूमि रखती है। एक माता जन्म देती है; दूसरी खेलने-कूदने, विचरण करने और सांसारिक जावननिर्वाह के लिए स्थान देती है, और तीसरी मनोविचारों और मनोगत भावों को दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति देकर मनुष्य-जीवन को सुखमय बनाती है। क्या ऐसी मातृभाषा का हम पर कुछ भी ऋण नहीं? क्या ऐसी मातृभाषा की विपन्नावस्था देखकर जानकार जनों की आंखों से आंसू नहीं टपकते? क्या ऐसी मातृभाषा से अधिकांश लोगों को पराङ्मुख होते और उसका परित्याग करते देख मातृभाषाभिमानियों का हृदय विदीर्ण नहीं होता? जो अपनी भाषा का आदर नहीं करता, जो अपनी भाषा से प्रेम नहीं करता, जो अपनी भाषा के साहित्य की पुष्टि नहीं करता, वह अपनी मातृभूमि की कदापि उन्नति नहीं कर सकता। उसके स्वराज्य का स्वप्न, उसके देशोद्धार का संकल्प, उसकी देश-भक्ति की दुहाई बहुत कुछ निःसार है। उसकी प्रतिज्ञायें और उसके प्रचारण और आस्फालन बहुत ही थोड़ा अर्थ रखते हैं। मातृभाषा की उन्नति करके एकता, जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों को जब तक आप झोपड़ियों

तक में रहनेवाले भारतवासियों के हृदयों में जागृत न कर देंगे तबतक आपके राजनैतिक मनोऽभिलाष पूरे तौर पर कदापि सफल होने के नहीं। क्या इस पृथ्वी की पीठ पर एक भी देश ऐसा है जहां शासनसम्बन्धी स्वराज्य तो है, पर मातृभाषा-सम्बन्धी स्वराज्य नहीं? विजित देशों पर विजेता क्यों अपनी भाषा का भार लादते हैं? आस्ट्रिया के जिन प्रान्तों पर इटली का अधिकार हो गया है वहां छल, बल और कौशल से क्यों इटालियन भाषा ठूंसी जा रही है? जर्मनी क्यों अपने दलित देशों या प्रान्तों में अपनी ही भाषा का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रचण्ड प्रयत्न कर चुका है? क्यों अभी उसने उस दिन जर्मन अफ़सरों और कर्म्मचारियों को यह आज्ञा दी थी कि रूर-प्रान्त में फ्रांसवालों के कहने से, खबरदार, अपनी भाषा छोड़ कर फ्रांस की भाषा का कदापि व्यवहार न करना? मुंह से जो शब्द निकालना जर्मन भाषा ही के निकालना। इसका एक मात्र कारण स्वराज्य और स्वभाषा का घना सम्बन्ध है। यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गई ही समझिए। बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्व-राज्य की नींव नहीं दृढ़ हो सकती। जो लोग इस तत्व को स-मझते हैं वे मर मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते। दक्षिणी आफरिका में, अपने अस्तित्वनाश का अवसर आ जाने पर भी, बोरों ने अपनी भाषा को अपने से अलग न किया; हजार प्रयत्न करने पर भी उन्होंने वहां विदेशी भाषा के पैर नहीं जमने दिये, जिन में राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता

के महत्व को समझते हैं, जो एकता के जादू को जानते हैं वे प्राण रहते कभी अपनी भाषा का त्याग नहीं करते; कभी उसके पोषण और परिवर्तन के काम से पीछे नहीं हटते; कभी दूसरों की भाषा को अपनी भाषा नहीं बनाते। जिन्दा देशों में यही होता है। मुर्दा और पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता; उन अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत ही दृश्य देखा जाता है।

४—मातृभाषा के स्वराज्य की आवश्यकता।

इस समय इस देश में स्वराज्यप्राप्ति के लिए सर्वत्र चेष्टा हो रही है। जिधर देखिए उधर ही स्वराज्य, स्वराज्य का घण्टा-नाद सुनाई दे रहा है। भारत के वर्तमान प्रभुओं ने भी थोड़ा थोड़ा करके स्वराज्य दे डालने की प्रतिज्ञा न सही, घोषणा तो ज़रूर ही कर डाली है। अब कल्पना कीजिए कि यदि इसी साल भारत के शासनकर्ता यहां से चल दें और कह दें कि लो अपना स्वराज्य, हम जाते हैं; तो ऐसा अवसर उपस्थित होने पर, बताइए, नवीन शासन में कितनी कठिनाइयां उपस्थित हो जायंगी। क्योंकि, भाषा के स्वराज्य की प्राप्ति का कुछ भी उपाय अब तक नहीं किया गया। और बिना इस स्वराज्य के शासन-व्यवस्था का विधान कभी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। बिना भाषा के स्वराज्य के क्या पद पद पर विशृङ्खलता न उपस्थित होगी? क्या उस समय भी अँगरेज़ी ही भाषा की तूती बोलेगी? कितने परिताप की बात है कि इस इतनी महत्वपूर्ण बात की ओर आज तक बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है। क्या इस धरातल पर कोई भी देश

ऐसा है जहां शासन-सम्बन्धी स्वराज्य तो है, पर भाषा-सम्बन्धी स्वराज्य नहीं ? स्वराज्य पाकर भी क्या कोई देश विदेश की भाषा के द्वारा शासनकार्य का सम्पादन कर सकता है ? भाइयो, स्वराज्यप्राप्ति की चेष्टा के साथ ही साथ, हमें मातृभाषा के स्वराज्य की प्राप्ति के लिए भी सचेत होना चाहिये। स्वराज्य पाने के लिए तो हमें किसी हद तक परमुखापेक्षण और परावलम्बन की भी आवश्यकता है, पर भाषा के स्वराज्य के लिए नहीं। उसकी स्थापना तो सर्वथा हमारे ही हाथ में है। मानसिक स्वराज्य मातृभाषा ही के आधार पर प्राप्त हो सकता है और बिना इस आधार के शासनविषयक स्वराज्य मिल जाने पर भी, वह सफलतापूर्वक नहीं सञ्चालित हो सकता। जातीय जीवन को एक सूत्र में बाँधने के लिए भी सबसे श्रेष्ठ उपाय मातृभाषा का स्वराज्य ही है। उससे स्वधर्म्म की भी रक्षा हो सकती है, ऐक्य की भी वृद्धि हो सकती है और परम्परागत ज्ञान की उपलब्धि भी, थोड़े ही श्रम से, हो सकती है। यदि हमें अपने धर्म-कर्म, सदाचार, इतिहास, वेद, शास्त्र, पुराण, विज्ञान, समाजनीति, राजनीति आदि सभी विषयों का ज्ञान अपनी ही भाषा के द्वारा होने लगे, अन्य भाषाओं का मुंह न ताकना पड़े, तो समझना चाहिए कि हमें स्वभाषा का स्वराज्य प्राप्त हो गया। भगवान् करे, आप इस अधिवेशन में ऐसा शङ्ख फूंकें जिसकी तुमुल ध्वनि सुन कर आलस्यग्रस्त जन जाग पड़ें और स्वभाषा के स्वराज्य की प्राप्ति के साधन प्रस्तुत करने में तन, मन से लग जायं!

५—एक व्यापक भाषा की आवश्यकता।

जिस तरह अपनी भाषा के स्वराज्य की आवश्यकता है उसी तरह अपने देश में एक प्रधान भाषा के सार्वत्रिक प्रचार की भी आवश्यकता है। भारत देश नहीं, महादेश है। उसके भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषायें भी भिन्न भिन्न हैं। उसके प्रान्त, प्रान्त नहीं। उनमें से कितने ही योरोप के छोटे छोटे देशों से भी बहुत बड़े हैं। भारत की कुछ प्रान्तीय भाषाओं में थोड़ा बहुत पारस्परिक मेल अवश्य है, पर कुछ में बिलकुल नहीं। ये भाषायें चिरकाल से अपनी अपनी भिन्नता स्थापित किये हुए ही चली आ रही हैं। इन सभी ने अपने अपने साहित्य की जुदा जुदा सृष्टि की है। इन भाषाओं के अन्तस्तल तक में इनके प्रान्तवासियों की जातीयता प्रविष्ट हो गई है। अतएव इनका परित्याग न तो सम्भव है और न श्रेयस्करही है। ये सब बनी रहें; इनकी समुन्नति होती जाय; इनके साहित्य की श्री सम्पन्नता बढ़ती जाय—देश का कल्याण इसी में है। परन्तु साथ ही एक ऐसी भी भाषा की आवश्यकता है,और बहुत बड़ी आवश्यकता है, जिसकी सहायता से सभी प्रान्तों के वासी अपने विचार अन्य प्रान्तवासियों पर प्रकट कर सकें। सारे देश की विचार-परम्परा को एकही धारा में बहाने—परस्पर एक दूसरे के सुख-दुःखों और इच्छा-आकांक्षाओं को व्यक्त करने—के लिए इसके सिवा और कोई साधन ही नहीं। सारे देश को एक सूत्र में बांधने, ऐक्य की स्थापना करने और जातीयता का भाव जागृत रखने की सबसे बढ़ कर शक्ति भाषा ही की

क ता में है। इसी से दूरदर्शी और महामान्य महात्मा गांधी हिन्दी को व्यापक भाषा बनाने पर इतना ज़ोर देते हैं। क्योंकि इस देश में यदि कोई भाषा सार्वदेशिक हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। इस बात को अब प्रायः सभी विज्ञ जनों ने मान लिया है। अतएव इस विषय में वाद-विवाद या बहस के लिए अब जगह नहीं। इसने तो अब गृहीत सिद्धान्त का स्वरूप धारण कर लिया है। जिन प्रान्तों की मातृ-भाषा हिन्दी नहीं उनमें भी अब हिन्दी के स्कूल और क्लासें खुल रही हैं; सैकड़ों हज़ारों शिक्षित पुरुष और कहीं कहीं स्त्रियां भी हिन्दी सीख रही हैं। इसका बहुत कुछ श्रेय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को भी है।

एक और दृष्टि से भी भारत में एक व्यापक भाषा की आवश्यकता है और उस दृष्टि से, बिना एक ऐसी भाषा के, देश का काम ही किसी तरह नहीं चल सकता। वह दृष्टि राजनैतिक—अथवा हिन्दी के किसी किसी वैयाकरण की सम्मति में राजनीतिक—है। स्वराज्य-प्राप्ति के विषय में, ऊपर एक जगह, एक कल्पना की जा चुकी है। अब, आप एक क्षण के लिए, एक और भी वैसी ही कल्पना कर लीजिए। मान लीजिए कि आपको स्वराज्य मिल गया या दे दिया गया, या आप ही ने ले लिया; और इस देश में प्रजासत्तात्मक या प्रतिनिधिसत्तात्मक राज्य की व्यवस्था हो गई। ऐसा होने पर—भारतीय संयुक्तराज्यों की स्थापना हो चुकने पर—आपने प्रान्त प्रान्त में प्रतिनिधि-सत्तात्मक कौंसिलों की योजना कर

ो और शासन का प्रबन्ध भी आपने अलग अलग कर दिया। फिर सारे देश के शासन की एकसूत्रता के सम्पादनार्थ आपने एक बड़े कौंसिल या कार्यनिर्वाहक सभा और मन्त्रि-मण्डल की सृष्टि करके, उसमें हर प्रान्त के थोड़े थोड़े प्रतिनिधियों का समावेश किया। इस दशा में प्रान्तीय कौंसिलों और मन्त्रिमण्डलों का कार्य-निर्वाह तो प्रान्तिक भाषाओं के द्वारा हो सकेगा। पर, आप ही बताइए, बड़े कौंसिल और मन्त्रिमण्डल का काम किस भाषा में होगा? अँगरेज़ी भाषा का तो नाम ही न लीजिए; उस दशा में उस भाषा का प्रयोग तो सर्वथा ही असम्भव होगा। क्योंकि प्रान्तिक प्रजा के ऐसे अनेक प्रतिनिधि वहां पहुंच सकेंगे जो अपनी भाषा छोड़ कर अन्य भाषा न समझ सकते होंगे और न बोल सकते होंगे।

अब मान लीजिए कि अकस्मात् कोई बड़े ही महत्व का और बड़ा ही आवश्यक काम आ गया और महामन्त्रियों को सारे देश के प्रतिनिधियों की सम्मति की अपेक्षा हुई। इस निमित्त बड़ी सभा या कौंसिल का एक विशेष अधिवेशन किया गया। उसमें महामात्य या सभापति कूटाक्षभट्ट, मन्त्रिप्रवर मङ्गलमूर्त्ति, ऐडमिरल बैनर्जी, फील्ड मार्शल फतेहजङ्ग, कमांडर-इन-चीफ़ बूटासिंह, ऐडजुटंट जनरल विक्रमादित्य, शिक्षा-सचिव नासिरी, परराष्ट्र-सचिव आयंगर, वाणिज्य-मन्त्री रानडे और क़ानूनी मन्त्री देसाई आदि के साथ भिन्न भिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधि मन्त्रणा करने बैठे। ऐसा दृश्य उपस्थित

होने पर, एक व्यापक भाषा के अभाव में, गोखले की बात आइयर न समझेंगे और गोखले आइयर की! देशपाण्डे का मुंह ताकते बरुवा रह जायंगे और बरुवा का देशपाण्डे! चैटर्जी का वक्तव्य सुनकर भी देसाई बहरे बने बैठे रहेंगे और देसाई का वक्तव्य सुनकर चैटर्जी! ऐसी दशा में प्रत्येक भाषा के ज्ञाता जुदाजुदा दुभाषिये नियत करने से भी क्या आपका काम चल सकेगा? ऐसे कितने दुभाषिये आप रक्खेंगे? हर वक्तृता या हर बात का अनुवाद किसी एक भाषा में यदि आप कराने बैठेंगे तो घण्टों का काम हफ़्तों में भी ख़तम न होगा। तब तक यदि मन्त्रणा किसी छिड़नेवाले युद्ध के विषय में हुई तो शायद शत्रु की गोला-बारी और बम-वर्षा भी देश की किसी सीमा पर होने लगे। अतएव इस प्रकार का अस्वाभाविक आडम्बर एक दिन भी न चल सकेगा। परन्तु यदि आप किसी एक ऐसी भाषा को सीख लेंगे जिसे सब जानते हों और ऐसे मौक़ों पर उसीमें अपने विचार व्यक्त करेंगे तो आपका सब काम चुटकी बजाते हो जायगा और विश्रृङ्खलता पास न फटकेगी।

अतएव सारे देश में एक प्रधान भाषा का प्रचार अब भी अत्यन्त आवश्यक है और आगे भी अत्यन्त आवश्यक होगा; और वह भाषा हिन्दी के सिवा और कोई नहीं हो सकती। यह बात अब सर्वसम्मत और सर्वमान्य सी हो चुकी है।

६—साहित्य की महत्ता।

ज्ञान-राशि के सञ्चित कोष ही का नाम साहित्य है।

सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली
और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का
साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह,
कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी
श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अव-
लम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके
उच्च-नीच भावों का, उसके धार्म्मिक विचारों और सामाजिक
संघटन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक
स्थितियों का प्रतिविम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो
उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति
या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और
सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र
साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या
उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित
समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्णसभ्य है। जिस
जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी
ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता
यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-
रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते
ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की
जीवनी शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में
कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या
कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात्

नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और, यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आंख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए! आप देखेंगे कि साहित्य ने वहां की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं; साहित्य ही ने वहां समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहां तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्म्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसीने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसीने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसीने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करनेवाली सञ्जीवनी ओषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठा-नेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह

देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किं बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा कि जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ़्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंगरेज़ी भाषा भी फ़्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द ज़रूर पड़ जाती है। पर यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषायें बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इङ्गलैंड चिरकाल तक फ़्रेंच और लेटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर, बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं। कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण

ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुंच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवाशुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषायें सीखनी ही न चाहिए। नहीं; आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषायें सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसीके साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म्म और राज-नीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है।

७—इतिहास की महत्ता।

साहित्य की एक शाखा का नाम है इतिहास। यह शाखा बड़े ही महत्त्व की है। इसका महत्त्व स्वतन्त्रता और स्वराज्य के महत्त्व से कम नहीं। स्वतन्त्रता चाहे चली जाय, पर

इतिहास न जाना चाहिए। उसकी रक्षा जी जान से करनी चाहिए। क्योंकि इतिहास के रक्षित रहने से खोई हुई स्वतन्त्रता फिर भी प्राप्त की जा सकती है ; पर उसके नष्ट हो जाने पर, यदि स्वतन्त्रता प्राप्त भी हो सकती है तो बड़ी बड़ी कठिनाइयां झेलने पर ही प्राप्त हो सकती है। जो जातियां इतिहास में अपने पूर्व-पुरुषों के गौरव को रक्षित नहीं रखतीं, जो उनके कारनामों को भूल जाती हैं, जो अपने भूतपूर्व बल और विक्रम को विस्मृत कर देती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं और नहीं भी नष्ट होतीं तो परावलम्ब के पङ्क में पड़ी हुई नाना यातनायें सहा करती हैं। अतएव, भाइयो, आप कृपा करके किसी ऐसे मन्त्र के अनुष्ठान की योजना कर दीजिए जिसके प्रभाव से हम अपने व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और भारवि, यास्क और पाणिनि, कणाद और गौतम, सायन और महीधर को न भूलें ; शकारि विक्रमादित्य, दिग्विजयी समुद्रगुप्त और महामनस्वी प्रताप का विस्मरण न होने दें ; राम और कृष्ण,भीष्म और द्रोण,भीम और अर्जुन को सदा आदर की दृष्टि से देखें। प्राचीन साहित्य की इस इतिहास-शाखा का महत्त्व बता कर आप हमारे पूर्वार्जित गौरव को अज्ञान-सागर में डूबने से बचा लीजिए। क्योंकि जिस जाति का इतिहास नष्ट नहीं हुआ और जिसमें अपने पुण्य-पुरुषों का आदर बना हुआ है वही अपनी मातृभूमि के अधःपात से विदीर्णहृदय होकर, अनुकूल अवसर आने पर, फिर भी अपना नत मस्तक उन्नत कर सकती है।

८—पुरातत्त्वविषयक साहित्य की आवश्यकता।

दुनियां में ऐसी कितनी ही जातियां विद्यमान हैं जिनका भूतकाल बहुत ही उज्ज्वल था, पर जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह जाने से, अन्धकार के आवरण से आच्छादित हो गई हैं। ऐसी जातियों को यदि इस बात का ज्ञान करा दिया जाय कि वे कौन हैं और उनके पूर्व-पुरुष कैसे थे तो उनके हृदय में फिर उठने की प्रेरणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। परन्तु जो यही नहीं जानता कि उसका भी कोई समय था—वह भी कभी अपनी सत्ता रखता था—वह अपने पूर्वजों की कीर्ति का पुनरुद्धार करने की चेष्टा क्यों करेगा? जिसकी दृष्टि में जो चीज़ कभी थी ही नहीं उसे पाने की तो इच्छा भी, बिना किसी प्रबल कारण के, उसके हृदय में उत्पन्न ही न होगी। यों तो अपने पूर्वजों के कीर्ति-कलाप की रक्षा करना सभी का धर्म्म है; पर गिरी हुई जातियों के लिए तो वह सर्वथा अनिवार्य्य ही है। उन्हें तो उस कीर्तिकलाप का सतत ही स्मरण करना चाहिए। पुरातन-वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा से ही इस प्रकार का स्मरण हो सकता है। इस रक्षा का साधन साहित्य की इतिहास-नामक शाखा का ही एक अङ्ग है। उसका नाम है पुरातत्त्व अथवा पुरातन वस्तुओं का ज्ञान, विवरण और विवेचन। कितने दुःख, कितने परिताप, कितनी लज्जा की बात है कि इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण अङ्ग का हिन्दी में प्रायः सर्वथा ही अभाव है। इस अभाव ने हमारी बहुत बड़ी हानि की है। उसने तो हमें

अन्धा सा बना दिया है। हम अपने आपको भूल सा गये हैं; हमें अपने पूर्वजों के बल और विक्रम, विज्ञता और विद्वत्ता, कला-कुशलता और पौरुष आदि लोकोत्तर गुणों का विस्मरण सा हो गया है। घटना-चक्र में पड़ कर हम कुछ के कुछ हो गये हैं। हम हनीबाल और सीपियों के गुणगान करते हैं, हम सीज़र और सलादीन की प्रभुता के पद्य सुनाते हैं, हम ज़रक्सीज़ और अलेग्ज़ांडर की चरितावली का कीर्तन करते हैं! यहां तक कि हम गॉल और केल्ट, नार्मन और सैक्सनलोगों की वंशावलियां तक कण्ठाग्र सुना सकते हैं। पर, हाय! हम अपने चन्द्रगुप्त और अशोक के, हम अपने समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के, हम अपने शातकर्णी और पुलकेशी के, हम अपने हर्ष और अमोघवर्ष के इतिहास की मोटी मोटी बातें तक नहीं जानते। जिसके चलाये हुए संवत् का प्रयोग हम, प्रति दिन, करते हैं और जिसका उल्लेख हमें, धार्मिक कृत्य करते समय, सङ्कल्प तक में करना पड़ता है वह हमारा शकारि विक्रमादित्य कब हुआ और उसने इस देश के लिए क्या क्या किया, यह तक हम ठीक ठीक नहीं जानते! इस आत्म-विस्मृति का भी कुछ ठिकाना है! विदेशी वंशावलियां रटने-वाले हमारे हज़ारों नहीं, लाखों युवकों को यह भी मालूम नहीं कि इस कानपुर के आसपास का प्रान्त, हज़ार पांच सौ वर्ष पहले, किन किन नरेशों के शासन में रह चुका है। मौखरी वंश के महीपों की भी सत्ता कभी यहां थी, यह बात तो उनमें से शायद दो ही चार ने सुनी हो तो सुनी हो। फिर

भला इनसे कोई यह आशा कैसे कर सकता है कि ये शिशु-नाग और आन्ध्रभृत्य, चोल और पाण्ड्य, पाल और परमार, हैहय और चालुक्य-वंशों के इतिहास की कुछ भी विशेष बातें बता सकेंगे।

अतएव, भाइयो, इस बड़ी ही लज्जाजनक और हानिकारिणी त्रुटि को दूर करने के उपाय की कोई योजना कर दीजिये। पुरातत्व की खोज करने, आज तक जितनी खोज हुई है उसका ज्ञान-सम्पादन करने और प्रस्तुत सामग्री के आधार पर हिन्दी में इस विषय की पुस्तकों का प्रणयन करने की ओर सामर्थ्यवान सज्जनों का ध्यान आकृष्ट कर दीजिये। जो संस्कृत और अँगरेज़ी का ज्ञान रखते हैं वे यदि चाहें तो इस काम को अच्छी तरह कर सकते हैं। आज तक हज़ारों शिला-लेख और दान-पत्र प्राप्त हो चुके हैं; अनन्त प्राचीन सिक्कों का संग्रह हो चुका है; तुर्किस्तान के उजाड़ मरुस्थल तक में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के सैकड़ों गड़े हुए ग्रन्थों के ढेर के ढेर हाथ लग चुके हैं; मूर्तियों, मन्दिरों और स्तूपों के समूह के समूह पृथ्वी के पेट से बाहर निकाले जा चुके हैं। उन सब के आधार पर भारत के पुरातन इतिहास के सूत्र-पात की बड़ी ही आवश्यकता है।

भारतीय पुरातत्व की जो यह इतनी सामग्री उपलब्ध हुई है उसके आविष्कार का अधिकांश श्रेय उन्हीं लोगों को है जिनके प्रायः दोष ही दोष हम लोग बहुधा देखा करते हैं। यदि सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विलकिन्स, जेम्स प्रिंसेप, जेन-

रल कनिङ्गहम, डाक्टर बुकनन, वाल्टर इलियट, कोलब्रुक, टाड, टामस, बाथ, टेलर, बर्जेस और फर्गुसन आदि विद्वानों ने इस विषय की ओर ध्यान न दिया होता तो भारत की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री बहुत करके पूर्ववत् ही अन्धकार में पड़ी रह जाती और जितनी प्राप्त हुई है उसका भी अधिकांश नष्ट हो जाता। अतएव इन पाश्चात्य पण्डितों ने हम पर जो यह इतना उपकार किया है तदर्थ हमें इन का हृदय से कृतज्ञ होना चाहिए। यद्यपि पुरातत्व के उद्धार के निमित्त भारत के वर्तमान शासकों ने एक महकमा ही अलग खोल रक्खा है और यद्यपि अब अनेक भारतवासी भी इस ओर दत्तचित्त हैं, पर इस की नींव डालनेवाले पूर्वनिर्दिष्ट विलायती विद्वान् ही हैं। अब भी इँगलैण्ड तथा योरप के अन्य देशों के विद्वान् ही इस विषय की खोज में अधिक मनोनिवेश कर रहे हैं, तथापि अनेक कारणों से उनके निर्णीत सिद्धान्तों में बहुधा त्रुटियां रह जाती हैं। विलायत के केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय ने भारतीय इतिहास को ६ भागों में प्रकाशित करना आरम्भ किया है। उसके जिस पहले भाग में भारत का प्राचीन इतिहास है उस का मूल्य तो ३५) है, पर त्रुटियों की उसमें बड़ी ही भरमार है। कुछ त्रुटियां तो असह्य हैं। उस दिन अँगरेज़ी के मासिक पत्र "माडर्न रिव्यू" में उसकी एक खण्डनात्मक आलोचना पढ़कर हृदय पर कड़ी चोट लगी। विदेशियों के लिखे हुए इतिहास में भूलों और भ्रमों का होना आश्चर्य्यजनक और अस्वाभाविक नहीं। उनको दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि हम लोग

स्वयं ही इस विषय का अध्ययन करके अपने इतिहास का आपही निर्माण करें और जहां तक हो सके उसे अपनी ही भाषा के साँचे में ढालें। विना ऐसा किये न तो अपने साहित्य की अभिवृद्धि ही होगी और न अपना सच्चा इतिहास ही अस्तित्व में आवेगा।

९—साहित्य की समृद्धि के उपाय।

देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा का प्रचार बढ़ रहा है। उनके गौरव का ज्ञान लोगों को धीरे धीरे होता जा रहा है। कांग्रेस आदि बड़ी बड़ी राजनैतिक संस्थाओं में भी अब हिन्दी का प्रवेश हो गया है। विख्यात वक्ताओं तक को अब कभी कभी इच्छापूर्वक, कभी कभी निरुपाय होकर, कभी कभी हवा का रुख बदला हुआ देख कर अनिच्छा से भी उसका आश्रय लेना पड़ता है। नये नये लेखकों और प्रकाशकों की कृपा से उस के साहित्य की भी वृद्धि हो रही है। यह सब होने पर भी, और और भाषाओं के साहित्य के साथ अपने साहित्य की तुलना करने पर, यह समस्त आयोजन वारिधि की पूर्ति के लिए एक वारि-बिन्दु ही के बराबर है। तथापि यह इतनी भी वृद्धि कुछ तो सन्तोषजनक अवश्य ही है—

श्लाघ्य मितापमपि किन्न मरौ सरश्चेत्?

क्योंकि राजपूताने के उत्तम वालुकामय मरुस्थल में एक अत्यल्प भी जलाशय शुष्क कण्ठ सींचने का काम कुछ तो देता ही है।

परन्तु यदि हमें और भाषाओं की समकक्षता करना है—

यदि हमें और देशों के न सही, अपने ही देश के अन्य प्रान्तों के सामने अपने मस्तक को ऊंचा उठाना है—तो हमें अपनी भाषा के साहित्य की वृद्धि झपाटे से करना चाहिए। क्योंकि अभी वह अत्यन्त ही अनुन्नत दशा में है। अतएव जब तक अनेक मातृभाषा-प्रेमी समर्थ जन इस ओर न झुकेंगे तब तक हिन्दी-साहित्य की उन्नति नाम लेने योग्य कदापि न होगी। क्योंकि जब से जन-समुदाय में ज्ञानाङ्कुर का उदय हुआ तब से आज तक नाना भाषाओं के साहित्य में अनन्त ज्ञानराशि सञ्चित हो चुकी है। इस दशा में उसी भाषा का साहित्य समृद्ध कहा जा सकता है जिसमें इस ज्ञान-राशि का सबसे अधिक सञ्चय हो। यह बात दस, बीस, पचास वर्षों में भी नहीं हो सकती। अतएव जब तक अनेकानेक लेखक चिरकाल-तक इस काम में न लगे रहेंगे तब तक अपनी भाषा का साहित्य समृद्ध न होगा। यों तो समृद्धि का यह काम सीमा-रहित है, वह कभी बन्द ही नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान की उन्नति दिन पर दिन होती ही जाती है; नई नई बातें ज्ञात होती ही जाती हैं; नये नये शास्त्रों, विज्ञानों, कलाओं और आविष्कारों का उद्भव होता ही जाता है। अतएव उन सबको अपनी भाषा के साहित्य-कोष में सञ्चित कर देने की आवश्यकता सदा ही बनी रहेगी। जब तक हिन्दी-भाषा का अस्तित्व रहेगा तब तक इस ज्ञान-सञ्चय के कार्य्य को जारी रखने की आवश्यकता भी रहेगी। ऐसा समय कभी आने ही का नहीं जब कोई यह कहने का साहस कर सके कि बस, अब समस्त ज्ञान-कोष

निःशेष हो गया। इस कारण साहित्य-वृद्धि का काम सतत जारी रखना पड़ेगा। इससे आप समझ जायँगे यह काम कितना गौरव-पूर्ण, कितना महत्वमय और कितना बड़ा है।

साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की सञ्जीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जायं, और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुंच जाय। मनोरञ्जन मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित्रगठन को हानि न पहुंचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग, विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसीसे मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है। रसवती, ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रन्थ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।

साहित्य की समृद्धि के लिए किन किन विषयों के और कैसे कैसे ग्रन्थों की आवश्यकता है, यह निवेदन करने की शक्ति मुझमें नहीं। जिस भाषा के साहित्य में, जिधर देखिये उधर ही, अभाव ही अभाव देख पड़ता है, उसकी उन्नति के निमित्त यह कहने के लिए जगह ही कहां कि यह लिखिए, वह लिखिए या यह पहले लिखिए वह पीछे। जो जिस विषय का ज्ञाता है अथवा जो विषय जिसे अधिक मनोरञ्जक जान पड़ता है उसे उसी विषय की ग्रन्थ-रचना करनी चाहिए। साहित्य की जितनी शाखायें हैं—ज्ञानार्जन के जितने साधन हैं—सभी को अपनी भाषा में सुलभ करदेने

की चेष्टा करनी चाहिए। साहित्य की दो एक बहुत ही महत्वमयी शाखाओं को अस्तित्व में लाने के लिए ग्रन्थ-प्रणयन के विषय में, ऊपर, मैं एक जगह प्रार्थना कर ही आया हूं। आप यह निश्चय समझिए, अपनी ही भाषा के साहित्य से जनता की यथेष्ट ज्ञानोन्नति हो सकती है। विदेशी भाषाओं के साहित्य से यह बात कदापि सम्भव नहीं। विदेशी साहित्य यदि हमारे साहित्य को दबा लेगा तो लाभ के बदले हानि ही होगी और इतनी हानि होगी जिसकी इयत्ता ही नहीं। हमारा इतिहास, हमारा विकास, हमारी सभ्यता बिलकुल ही भिन्न प्रकार की है। विदेशी साहित्य के उन्मुक्त द्वार से आई हुई सभ्यता हमारी सभ्यता को निरन्तर ही बाधा पहुंचाती रहेगी। फल यह होगा कि हम अपने गौरव और अपने आत्म-भाव को भूल जायंगे। इससे हमारी जातीयता ही नष्ट हो जायगी। और, जो देश अपना इतिहास और जातीयता खो देता है उसके पास फिर रही क्या जाता है? वह तो ज़िन्दा ही मुर्दा हो जाता है और क्रम क्रम से नामशेष होने के पास पहुंच जाता है। अतएव हमारा परम धर्म है कि हम अपने ही साहित्य की सृष्टि और उन्नति करें। एतदर्थ हमें चाहिए कि हम, हिन्दी के साहित्य-कोष में, अपने पूर्वपुरुषों के द्वारा अर्जित ज्ञान का भी सञ्चय करें और विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी जो ज्ञान हमारे मतलब का हो उसे भी लाकर उसमें भर दें। विदेशी ज्ञान अरबी, फारसी, अङ्गरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, चीनी, जापानी आदि किसी भी भाषा में क्यों न पाया

जाता हो, हमें निःसङ्कोच उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। हमारी सभ्यता पर सिक्खों, पारसियों, मुसलमानों, अंगरेज़ों, चीनियों और जापानियों तक की सभ्यता का प्रभाव पड़ा है। जैनों और बौद्धों की सभ्यता का तो कुछ कहना ही नहीं। अतएव इन जातियों और धर्मानुयायियों के साहित्यों से भी उपादेय अंश ग्रहण करके हमें अपने साहित्य की पूर्ति करनी चाहिए।

वैदिक और पौराणिक काल में निर्मित ग्रन्थों का जो अंश हमारे यहां बच रहा है वही इतना अधिक है कि अनेक लेखक सतत श्रम करने पर भी उसे, थोड़े समय में, हिन्दी का रूप नहीं दे सकते। अकेले जैनियों ही के ग्रन्थ-भाण्डारों में सैकड़ों नहीं, हज़ारों ग्रन्थ अब भी ऐसे विद्यमान हैं जिन का नाम तक हम लोग नहीं जानते। यह सारा साहित्य हमारे ही पूर्वजों की—हमारेही देशवासियों की—कृपा से अस्तित्व में आया है। अतएव वह भी हमारी सभ्यता का निदर्शक है। उसे छोड़ देने से हमारी सभ्यता और हमारी जातीयता के बोधक साधन पूर्णता को नहीं पहुंच सकते।

पुराणों को कुछ लोगों ने बदनाम कर रक्खा है। वे उन्हें गपोड़े समझते हैं। यही सही। पर क्या गपोड़े होने ही से वे त्याज्य हो गये? क्या गपोड़े साहित्य का अंश नहीं? क्या पुराण अपने समय की भारतीय सभ्यता के सूचक नहीं? क्या बड़े होने पर हम अपनी दादी या नानी की कही हुई कहानियां याद करके आनन्दमग्न, और कोई कोई प्रेमविह्वल

तक, नहीं हो जाते ? क्या पुराण हमारे ही पूर्वजों की यादगार नहीं ? वे कैसे ही क्यों न हों, हमारे तो वे आदर ही के पात्र हैं। जिन्होंने पुराण पढ़े हैं वे जानते हैं कि वे समूल ही निःसार नहीं। उनमें, और हमारे महाभारत तथा रामायण में, हमारी सभ्यता के आदर्श चित्र भरे पड़े हैं। उनमें दर्शन-शास्त्रों के तत्त्व हैं; उनमें ज्ञान-विज्ञान की बातें हैं; उनमें ऐतिहासिक विवरण हैं; उनमें काव्य-रसों की प्रायः सभी सामग्री है। अतएव वे हेय नहीं। ज़रा श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय ही को देख लीजिए। नीच योनि में उत्पन्न माने गये दैत्य हिरण्यकशिपु ने उसमें कितनी तत्त्वदर्शिता प्रकट की है—अपने गम्भीर ज्ञान की कैसी अद्भुत बानगी दिखाई है! वह ज्ञानप्रदर्शन पुराणकार ही का माल क्यों न मान लिया जाय; वह वहां विद्यमान तो है। इसी तरह विष्णुपुराण में आपको मगधनरेशों के कुछ ऐसे ऐतिहासिक वर्णन मिलेंगे जिनको असत्य ठहराने का साहस, आज कल, इस बीसवीं सदी के भी धुरन्धर इतिहासवेत्ता नहीं कर सकते।

मौलिक साहित्य-रचना की तो बड़ी ही आवश्यकता है। पर उसके साथ ही साथ, हमारी सभ्यता के सूचक प्राचीन साहित्य के हिन्दी-अनुवाद की तथा विदेशी भाषाओं के भी ग्रन्थरत्नों के अनुवाद की आवश्यकता है—फिर, वे ग्रन्थ चाहे अंगरेज़ी भाषा के हों, चाहे अरबी, फ़ारसी के हों, चाहे और ही किसी भाषा के हों। विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बसु की विज्ञान-विचक्षणता और अद्भुत

आविष्क्रियाओं ने भू-मण्डल के विज्ञानवेत्ताओं को चकित कर दिया है। उन्होंने विज्ञान-बल से यन्त्र-द्वारा यह बात प्रमाणित कर दी है कि हमारे उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रों के सिद्धान्त निर्मूल नहीं। उनके अनुसार जो ब्रह्म या परमात्मांश प्राणिमात्र में विद्यमान है वही उद्भिज्जों और जड़ पदार्थों तक में विद्यमान है। इस जड़-चेतनमयी सृष्टि में परमात्मा सर्वत्र ही व्याप्त है और सभी का पालन-पोषण, नियमन तथा नाश एक ही प्रकार के नियमों से होता है। सरस्वती नदी के तट पर, हज़ारों वर्ष पूर्व, हमारे ऋषियों, मुनियों और पूर्वजों ने जिस "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के तत्व का उद्घाटन किया था, आचार्य्य बसु ने उसीकी सत्यता अपने आविष्कारों द्वारा प्रमाणित कर दी है। कितने परिताप की बात है कि उनके इस तत्व के निर्णायक ग्रन्थों में से, अब तक, किसी एकका भी अनुवाद हिन्दी में नहीं हुआ। हेकेल नाम के नामी तत्ववेत्ता ने विकाशवाद, सृष्टि-रचना आदि विषयों पर बड़े ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। उसके एक ग्रन्थ का नाम है विश्वरहस्य (Riddle of the Universe)। उसने इस ग्रन्थ में इस बात का निरूपण किया है कि यह सारा विश्व एकरसात्मक है; वह एक ही अद्वितीय तत्त्व का प्रसार है; उसकी जड़ में एक ही परम-तत्त्व का अधिष्ठान है। उसीके अन्तर्गत किसी अनिर्वचनीय शक्ति की प्रेरणा से उसका काम यथानियम होता है। इस प्रकार इस अनात्मवादी वैज्ञानिक ने भी विश्व में किसी परम तत्त्व

की अवस्थिति को स्वीकार किया है और प्रकारान्तर से उपनिषदों ही के "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" संज्ञक महावाक्य की सत्यता सिद्ध कर दिखाई है। क्योंकि आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व पृथक् न स्वीकार करने पर भी, उसका तत्त्वाद्वैतवाद किसी अखण्ड और अद्वितीय सत्ता की गवाही दे रहा है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रयत्न से हैकेल के इस ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हो गया, यह बहुत अच्छा हुआ। यदि अध्यापक बसु के ग्रन्थों का भी अनुवाद हो जाय तो हम लोगों में से अनभिज्ञों और सन्दिहानों को अपने स्वरूप का कुछ अधिक ज्ञान हो जाय। वे यह तो जान जायं कि हम किनकी सन्तान हैं; हमारे पूर्वजों ने ज्ञान की कितनी प्राप्ति की थी; ज्ञानोन्नति में किसी समय हमारा देश कहां तक पहुँचा था।

विदेशी भाषाओं में ऐसे सहस्रशः ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनके अनुवाद से हमारी जाति और हमारे देश को अपरिमेय लाभ पहुँच सकता है। परन्तु, खेद की बात है, उस तरफ़ हमारा बहुत ही कम ध्यान है। जो समर्थ हैं और जो अंगरेज़ीदाँ बनकर, अनेक बातों में, अंगरेज़ों की नक़ल करना ही अपना परम धर्म्म समझते हैं उनको कृपा करके किसी तरह जगा दीजिए। उन्हें अपने साहित्य की उन्नति से होनेवाले लाभ बता दीजिए और उनको इस बात की प्रेरणा कीजिए कि वे अंगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं के आदरणीय ग्रन्थों का अनुवाद करके अपनी भाषा के साहित्य की वृद्धि करें। साथ ही इस बात पर भी

ज़ोर दीजिए कि शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता रखनेवाले विद्वान् मौलिक ग्रन्थों की भी रचना करके अपनी विद्या और शिक्षा को सफल और सार्थक करें।

सज्ञान होकर भी जो मनुष्य अपने पूर्वजों के गौरव की रक्षा नहीं करता, शिक्षित होकर भी जो मनुष्य अपनी भाषा का आदर नहीं करता, समर्थ होकर भी जो मनुष्य अपने साहित्य की परिपुष्टि करके अपनी जाति और अपने देश को ज्ञानोन्नत नहीं करता वह अपने कर्त्तव्य से च्युत समझा जाता है। मातृभूमि और मातृभाषा दोनों ही के लिए उसका होना न होना एक ही सा है। अपनों का प्यार न करनेवाले—अपनों के सुख-दुःख में शामिल न होनेवाले—के लिए बस एक ही काम रह जाता है। वह है भिक्षापात्र लेकर दूसरोंके द्वार पर, हर बात के लिए, फेरी लगाना। जीवन्मृत या आत्महन्ता की संज्ञा का निर्माण ऐसेही मनुष्यों के लिए हुआ है। कृपा करके ऐसे पुरुषपुङ्गवों को इस संज्ञा-निर्देश से बचा लीजिए।

१०—हिन्दी-भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा।

मातृभाषा के साहित्य का महत्त्व बहुत उच्च है। परन्तु इन प्रान्तों में उसीकी शिक्षा का बहुत कुछ अभाव देखकर हृदय में उत्कट वेदना उत्पन्न होती है। बड़ी कठिनता से हाई स्कूलों के आठवें दरजे तक तो हिन्दी को किसी तरह दाद मिल गयी है, पर आगे नहीं। बम्बई-विश्वविद्यालय में मराठी साहित्य की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है; मदरास-विश्वविद्यालय

में तामील और तैलगू भाषाओं का निर्बाध प्रवेश है ; कलकत्ता-विश्वविद्यालय में भी बङ्गला-भाषा का साहित्य उच्चासन पर आसीन है—उसमें तो हिन्दी-साहित्य के प्रवेश का भी द्वार खुल गया है—पर, जिन अभागे संयुक्त-प्रान्तों की भाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी है उनके विश्वविद्यालय में वह अछूत जातियों की तरह अस्पृश्य मानी जाती है। उसके तो नाम ही से कुछ सदाशय देश-बन्धुओं के मुंह से "दूर दूर" की आवाज़ निकला करती है। उन्हें तो आठवें दरजे तक भी हिन्दी का प्रवेश खटकता है ; उनकी सम्मति में उसके प्रवेश से अङ्गरेज़ी-भाषा की शिक्षा में विघ्न उपस्थित होता है। सुदूरवर्ती और द्राविड़-भाषा-भाषी मदरास-प्रान्त के माध्यमिक दर्जों (Intermediate Classes) में तो हिन्दी पढ़ाई जाय—ऐच्छिक विषयों में उसके अध्ययन की भी स्वीकृति वहां का विश्वविद्यालय दे दे—पर अपने ही घर में, अपने ही प्रान्त में, बेचारी हिन्दी धसने तक न पावे। अपनी भाषा के साहित्य का इतना निरादर और उसके साथ इतना अन्याय क्या किसी और भी देश, अथवा इसी देश के क्या किसी और भी प्रान्त में देखा जाता है? इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के जिन सेनेटरों को इन प्रान्तों की भूमि अपने ऊपर धारण करती है और जिनके बूटों की ठोकरें खाया करती है उनकी इस उदारता के लिए उन्हें अनेक धन्यवाद! जिस भाषा को उन्होंने अपनी माँ से सीखा, जिस की कृपा से ही वे अङ्गरेज़ी भाषा और अङ्गरेज़ी के साहित्य

के पारगामी पण्डित बने, और जिसकी बदौलत ही अब भी उनके गार्हस्थ्य जीवन सम्बन्धी सारे काम चलते हैं उसीके साथ उनके इस सलूक का दृश्य मनस्वी मनुष्यों ही के नहीं, देवताओं के भी देखने योग्य है! भगवान्, आप तो करुणासागर कहाते हैं। इन प्रान्तों ने ऐसा कौन सा घोर पाप किया है जो आप इन मातृभाषाभक्तों के हृदयों में आत्मगौरव और आत्माभिमान का न सही, करुणा तक का उद्रेक नहीं करते? स्वराज्य का भाव जब आपने इनके हृदयों में जागृत कर दिया तब स्वभाषा के साहित्य की महत्ता का भाव क्यों न जागृत किया? क्या इन दोनों में अन्योन्याश्रयभाव नहीं? क्या ये एक दूसरे के आश्रय बिना बहुत समय तक टिक सकते हैं? देवताओ, तुम्हारा कारुण्य पारावार क्या बिलकुल ही सूख गया? क्या किसी कुम्भजन्मा ने उसे समग्र ही पी लिया? क्या उसके एक ही छींटे से हिन्दी-साहित्य का सन्ताप नहीं दूर हो सकता?

तदुग्रतापव्ययसक्षशीकरः सुराः स वः केन पपे कृपार्णवः?
उदेति बुद्धिर्हृदि नोऽशुभेतरा किमाशु संकल्पकणश्रमेण वः?

भाइयो, यदि और कहीं से कुछ भी सहायता न मिले तो आप ही इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के कर्णधारों की मोहनिद्रा भङ्ग करने की चेष्टा कीजिए। देखिए, उनके कर्तव्य पराङ्मुख होने से अपनी कितनी हानि हो रही है। शेक्सपियर, शैली और बाइरन ही को नहीं, चासर तक को याद करते करते हम अपने सूर, तुलसी, बिहारी और केशव को भी

भूलते जा रहे हैं ! नार्मन और सैक्सन लोगों तक की भी पुरानी कथायें कहते कहते हम अपने यादवों, मौर्यों और कण्वों का नाम तक विस्मृत करते जा रहे हैं। टेम्स और मिसी-सिपी, डॉन और डेन्यूब की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई नापते नापते हम यह भी जानने की ज़रूरत नहीं समझने लगे कि अपने ही प्रान्त अथवा अपने ही ज़िले की गोमती और घाघरा, बेतवा और सई, लोनी और रामगङ्गा कहां से निकलीं और कहां गिरी हैं तथा उनके तट पर कौन कौन प्रसिद्ध नगर और क़सबे हैं ! यदि छोटे दरज़ों में पढ़ाई जानेवाली किताबों में इन नदियों आदि का उल्लेख भी कहीं मिलता है तो यों ही उड़ते हुए दो चार शब्दों में ! हम को धिक् ! यदि अपनी भाषा और उस के साहित्य की पढ़ाई का पूरा प्रबन्ध होता तो क्या आज ऐसी दुर्व्यवस्था देखने का दिन आता ? क्या इस दशा में भी जातीयता के भावों की रक्षा हो सकती है ?

मैं यह नहीं कहता कि अंगरेज़ी भाषा और उस के साहित्य की उच्च शिक्षा न दी जाय। नहीं, ज़रूर दी जाय। देश की वर्तमान स्थिति में बिना उसकी शिक्षा के तो हमारा निस्तार ही नहीं। मैं तो यहां तक समझता हूं कि स्थिति बदलने पर भी—राजनैतिक कारणों का दबाव दूर होने पर भी—अँगरेज़ी भाषा और उसके साहित्य की शिक्षा की शायद फिर भी आवश्यकता बनी रहे। क्योंकि अन्य भाषायें—चाहे वे स्वदेशी हों चाहे विदेशी—हमें सभी की सहायता से अपनी ज्ञानवृद्धि करनी है। ज्ञान कहीं भी क्यों न हो, उसे ग्रहण

करना ही चाहिए। योरप और अमेरिका ही में नहीं, जापान तक में देखिए, विदेशी भाषाओं और उनके साहित्य की शिक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध है। मेरा निवेदन इतना ही है कि अपने प्रान्त में, अँगरेज़ी-साहित्य की उच्च शिक्षा के साधनों के साथ ही साथ, अपनी भाषा के भी साहित्य की शिक्षा के साधन सुलभ हो जाने चाहिए। बनारस और लखनऊ के विश्व-विद्यालयों ने इसका सूत्रपात कर दिया है, यह प्रसन्नता की बात है। एक महाशय ने इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के विचारकों की सभा में भी विचार के लिए एक प्रस्ताव भेजा था। नहीं मालूम, उसका क्या नतीजा हुआ। पर अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। एक नहीं, अनेक जनों को इस विषय में प्रयत्नशील होना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य की शिक्षा के साधन यदि, अभी हाल में अनिवार्य्य रूप से सुलभ न कर दिये जायं, तो ऐच्छिक रूप ही से सही; कुछ तो सुभीता हो जाय; सर्वांश में न हो तो अल्पांश ही में कलंक की यह कालिमा धुल तो जाय और तो भारत के लिए सौभाग्य का दिन तभी होगा जब हिन्दी भाषा के द्वारा सब प्रकार की उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यमान विश्वविद्यालयों और कालेजों के साथ ही साथ, हिन्दी विश्वविद्यालयों और हिन्दी-कालेजों की भी स्थापना हो जायगी। क्या कभी ऐसा भी सुदिन आवेगा? क्या कभी उच्च-शिक्षादान के विषय में हिन्दी-साहित्य का भी सुप्रभात होगा? कृपा करके एक बार कह तो दीजिए—"होगा"।

११—समाचारपत्रों की नीति।

समाचारपत्र और सामयिक पुस्तकें भी साहित्य के अन्तर्गत हैं। अतएव उनके विषय में भी मुझे कुछ निवेदन करना है। अब वह समय आया है जब जन-समुदाय अपनेको राजा से बढ़कर समझता है। वह अपने ही को राजस्थानीय जानता है। उसका कथन है कि जनता की सत्ता से ही राजा की सत्ता है; जनता ही की आवाज़ राजा या राज-पुरुषों का आयोजन और नियन्त्रण करती है। इस दशा में राजनैतिक और सामाजिक विषयों में दखल देनेवाली सामयिक पुस्तकों और समाचारपत्रों को चाहिए कि वे अपनेको जनता का मुख, जनता का वकील, जनता का प्रतिनिधि समझें; अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को भूल जायं। जो कुछ वे लिखें जनता ही के हित को लक्ष्य में रखकर लिखें; ईर्ष्याद्वेष, वैमनस्य, स्वार्थ और व्यक्तिगत हानि लाभ की प्रेरणा के वशीभूत होकर एक अक्षर भी न लिखें। सत्यता के प्रकाशन को वे अपना परम धर्म्म समझें। जो समाचारपत्र जनता के हार्दिक भावों का प्रकाशन जान बूझ कर नहीं करते वे अपने ग्राहकों और पाठकों को धोखा देते हैं और अपने कर्तव्य से च्युत होते हैं। उनको चाहिए कि सत्यपरता से कभी विचलित न हों। जन-समुदाय से सत्य को छिपा रखना अपने व्यवसाय को कलङ्कित और सर्वसाधारण के साथ विश्वासघात करना है।

सम्पादकीय लेखों और नोटों में सामयिक विषयों की

जो चर्चा की जाय उसमें असत्यता की तो बात ही नहीं, अतिरञ्जना भी न होनी चाहिए। समाचारपत्रों को अन्याय और अनुचित आलोचना को पाप समझना चाहिए। जो पत्र व्यक्तिगत आक्षेपों और कुत्सापूर्ण लेखों से अपने कलेवर को काला करते हैं वे अपने पवित्र व्यवसाय का दुरुपयोग करते हैं, और जनता की दृष्टि में अपनेको निन्द्य और उपहासास्पद बनाते हैं। उनके व्यर्थ के पारस्परिक विवादों में न पड़ना चाहिए। व्यापार-व्यवसाय से सम्बन्ध रखनेवाले और दूकानदारी के दाव-पेंचों से पूर्ण विज्ञापनों को समाचारों और सम्पादकीय लेखों के आच्छादन में छिपा कर कभी प्रकाशित न करना चाहिए। विज्ञापन देनेवालों को अपने पत्र की प्रकाशित या वितरित कापियों की संख्या बढ़ा कर न बतानी चाहिए। आक्षेपयोग्य, अश्लील, धोखेबाज़ी से भरे हुए विज्ञापन कभी न छापना चाहिए। अनौचित्य का सन्देह होने पर, जांच करने के अनन्तर, इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि विज्ञापन प्रकाशनीय है या नहीं। अपने हानि-लाभ को न देख कर, जहां तक बुद्धि और विवेक काम दे, सच्चे ही विज्ञापन लेने चाहिए। सौ बात की बात यह, कि कभी, किसी भी दशा में, जान बूझ कर सत्य का अपलाप न करना चाहिए।

अतएव प्रार्थना है कि समाचारपत्रों के नियमन के लिए आप कोई ऐसी नीति या नियमावली निश्चित कर दीजिए जो उनका मार्गदर्शक हो। आप यदि कुछ नियामक नियम बना

देंगे तो, बहुत सम्भव है, उनका उल्लंघन करने पर, आपके कशाघात के भय से, सत्य की हत्या होने से बच जाय।

१२—हिन्दी-भाषा की ग्राहिका शक्ति।

हिन्दी-भाषा जीवित भाषा है। जो लोग उसे किसी परिमित सीमा के भीतर ही आबद्ध करना चाहते हैं वे मानों उसका उपचय—उसकी कलेवर-वृद्धि—नहीं चाहते। जीवित भाषाओं के विषय में इस प्रकार की चेष्टा, बहुत प्रयास करने पर भी, सफल नहीं हो सकती। संसार में शायद ऐसी एक भी भाषा न होगी जिसपर, सम्पर्क के कारण, अन्य भाषाओं का प्रभाव न पड़ा हो और अन्य भाषाओं के शब्द उसमें सम्मिलित न हो गये हों। अंगरेज़ी भाषा संसार की प्रसिद्ध और समृद्ध भाषाओं में है। उसीको देखिए। उसमें लाटिन, ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन और सैक्सन आदि अनेक भाषाओं के शब्दों, भावों और मुहावरों का संमिश्रण है। यहां तक कि उसमें एक नहीं, अनेक शब्द संस्कृत-भाषा तक के कुछ थोड़े ही परिवर्तित रूप में, पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ पाथ (Path) के रूप में हमारा पथ और ग्रास (Grass) के रूप में हमारा घास शब्द प्रायः ज्यों का त्यों विद्यमान है। बात यह है कि जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बन्द हो जाता है वह उपवास सी

करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव सी जरूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है। और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि सजीव भाषायें नियन्त्रण करनेवालों की शक्ति की सत्ता के बाहर है।

हमारी हिन्दी सजीव भाषा है। इसीसे, सम्पर्क के प्रभाव से, उसने अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिए हैं और अब अंगरेज़ी-भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं, गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका शक्ति के प्रभाव से हिन्दी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों त्यों उसमें नये नये शब्दों का आगमन होता जायगा। क्या नियन्त्रण के किसी भी पक्षपाती में यह शक्ति है कि वह जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध को तोड़ दे अथवा भाषाओं का सम्मिश्रण-क्रिया में रुकावट पैदा कर दे? यह कभी सम्भव नहीं। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को तो नहीं खो रही—कहीं बीच बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही। मतलब यह कि दूसरोंके शब्द, भाव और मुहावरे ग्रहण करने पर भी हिन्दी हिन्दी ही बनी है या नहीं। बिगड़ कर कहीं वह और कुछ तो नहीं होता जा रही, बस।

विदेशी भाव, शब्द और मुहावरे ग्रहण करने में केवल यह देखना चाहिए कि हिन्दी उन्हें हज़म कर सकती है या नहीं, उनका प्रयोग खटकता तो नहीं; वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नहीं। मकान, मिज़ाज, मालिक विदेशीभाषा के शब्द हैं; पर हिन्दी ने उन्हें आत्मसात् कर लिया है—उन्हें उसने हज़म कर लिया है। उन्हें स्त्रियां और बच्चे तक, पढ़े लिखे और अपढ़, सभी बोलते हैं। इस कारण विदेशी होकर भी वे अब स्वदेशी हो गये हैं। उनको अब सर्वथा हिन्दी-शब्द-मालिका के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसी तरह नोट, नम्बर, बोतल और कौंसिल आदि शब्द भी विदेशी होकर भी स्वदेशी बन गये हैं। करने से भी, उन के वहिष्कार की चेष्टा कभी सफल नहीं हो सकती। अतएव विदेशी भाषाओं के जो शब्द अपनी भाषा में खप गये हैं वे सब हिन्दी ही के हो गये हैं और आगे जो खपते जायंगे वे भी हिन्दी ही की मिलकीयत होते जायंगे। हिन्दी जीती जागती भाषा है। दूसरोंकी दी हुई चीज़ को ले लेने का अधिकार उसे स्वयं प्रकृति ही ने दे रक्खा है। उसे कोई छीन नहीं सकता। इस दशा में यह कहना कि यह शब्द हमारी भाषा का नहीं, इससे हम इसका वहिष्कार कर देंगे, प्रकृति के प्रबल प्रवाह को रोकने का व्यर्थ परिश्रम करना है।

हां, एक बात अवश्य है। वह यह कि जो भाव या जो मुहावरे हिन्दी में न खप सकते हों, अर्थात् जो खटकनेवाले हों—जिन्हें हिन्दी हज़म न कर सकती हो—उनका प्रयोग

सहसा न करना चाहिए। उदाहरणार्थ—दृष्टिकोण, हाथ बटाना, लागू होना, नङ्गी प्रकृति इत्यादि भाव या मुहावरे बोलचाल की हिन्दी में नहीं खपते। इनका प्रयोग भी कुछ ही समय से होने लगा है। यही भाव विचार-दृष्टि, सहायता करना और घटित होना लिखने या बोलने से अच्छी तरह व्यक्त किये जा सकते हैं और खटकते नहीं। नङ्गी प्रकृति अंगरेज़ी मुहावरे "Naked Nature" का अनुवाद है। उस में इतना वैदेशिक भाव भरा हुआ है कि उससे मिलता-जुलता मुहावरा हिन्दी की टकसाल में ढालना किसी बड़े तजरुबेकार मिंट मास्टर (Mint Master) ही का काम है। अभी तो इस तरह के मुहावरे ज़रूर खटकते हैं; पर यदि इनका प्रचार बढ़ता ही गया तो किसी दिन यह खटक जाती रहेगी और ये भी हिन्दी ही के मुहावरे हो जायँगे। क्योंकि बन्दूक का छर्रा यदि शरीर के भीतर बहुत समय तक रह जाता है तो उससे भी उत्पन्न कसक धीरे धीरे जाती रहती है। तथापि इस प्रकार के अप्राकृतिक प्रयोग इष्ट नहीं। उन की संख्या-वृद्धि से हिन्दी की विशेषता को धक्का पहुँचने का डर है।

१३—हिन्दी-भाषा और व्याकरण।

हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध संस्कृत से है। कोई तो संस्कृत को उसकी माता या मातामही बताते हैं, कोई प्राकृत को। कुछ विद्वान् उसके सम्बन्ध-सूत्र को खींच कर वैदिक संस्कृत तक पहुंचा देते हैं। अस्तु। संस्कृत, वैदिक संस्कृत

और प्राकृत चाहे उसकी माता हो चाहे मातामही, चाहे और कुछ, इस निर्णय का अधिकारी मैं नहीं और न इसका निर्णय करने या इस विषय में शास्त्रार्थ करने की शक्ति ही मुझमें है। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि संस्कृत और प्राकृत से घनिष्ट सम्बन्ध रखने पर भी, हिन्दी भिन्न भाषा है और भिन्न होने के कारण वह उन भाषाओं से अपनी निज की कुछ विशेषता रखती है। इससे संस्कृत या संस्कृत-व्याकरण के नियमों पर, आंख मूंद कर, चलने के लिए वह बाध्य नहीं।

जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसीका अंश हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। पर क्या इसी कारण से वैयाकरणों को यह हुक्म देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़ कर ही लिखो; उनके बीच ज़रा भी कोरी जगह, अर्थात् "स्पेस," न छोड़ो? क्या संस्कृत-व्याकरण में भी कोई नियम ऐसा है? अनन्त काल से संस्कृत-भाषा लिखने में विभक्तियां ही नहीं, बड़े बड़े शब्द, वाक्य, श्लोक और सतरें की सतरें तक मिला कर ही लिखी जाती रही हैं और अब भी पुरानी चाल के पण्डितों के हाथ से लिखी जाती हैं। क्या इसके लिए भी संस्कृत-व्याकरण में कोई नियम है? क्या इस तरह की संलग्नता से संस्कृत-भाषा में कुछ विशेषता आगई? क्या उसकी उन्नति और साहित्य-वृद्धि का कारण यह संलग्नता भी मानी जा सकती है? अथवा क्या इससे उसे कुछ हानि पहुंची?

क्या उसका विकास या उन्नति बन्द हो गई? यही हाल अरबी फ़ारसी और उर्दू का भी है। यह तो कोई व्याकरण की बात नहीं; केवल सुभीते या परिपाटी की बात है।

संस्कृत में भ्याम्, भ्य: (भ्यस्), भि: (भिस्) आदि विभक्तियां लगने पर, शब्दों में कई प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं; उनका रूप कुछ का कुछ हो जाता है; विभक्तियां उनका अंश हो जाती हैं; वे उनसे पृथक् रही नहीं सकतीं। इस कारण संलग्नता की बात संस्कृत के लिए तो ठीक ही है; पर हिन्दी को भी उसी नियम से जकड़ने की क्या आवश्यकता? संस्कृत के कोष आप ढूंढ़ डालिए; भ्याम्, भ्यः आदि विभक्तियां उनमें, पृथक् शब्दों के रूप में, कहीं न मिलेंगी। वे पृथक् शब्द नहीं मानी गईं। पर हिन्दी का कोई भी प्रतिष्ठित कोष—पादरी वेट तक का—आप उठा लीजिए। उसमें को, के, से, में आदि का निर्देश आपको, स्वतन्त्र शब्दों की तरह किया गया, मिलेगा। अतएव यदि कुछ लेखक, हिन्दी में, विभक्तियों को अलग लिखें तो क्या कोई बहुत बड़ी अभावनीय या अस्वाभाविक बात हो जाय? क्या ऐसा करने से हिन्दी की उन्नति में बाधा उपस्थित हो सकती है? यह व्याकरण का विषय नहीं, यह तो रूढ़ि का—परिपाटी का, लिखने के ढँग का—विषय है। शब्द अलग अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है; भ्रम की सम्भावना कम रह जाती है। जिनको यह ढँग पसन्द न हो वे विभक्तियों ही को नहीं, शब्दों को भी परस्पर मिलाकर लिख सकते

हैं। साठ सत्तर वर्ष पूर्व छपी हुई हिन्दी-पुस्तकों में भी, संस्कृत ही के सदृश, लम्बी शब्द-संलग्नता विद्यमान है। अनेक नई बाज़ारू पुस्तकों में, अब भी, उसके दर्शन होते हैं। बताइए, इस संलग्नता ने हिन्दी-साहित्य की कितनी उन्नति की? अथवा शताब्दियों से प्रचलित शब्द-संलग्नता अरबी और फ़ारसी भाषाओं की भी कितनी उन्नति और श्रीवृद्धि का कारण हुई? संलग्नता और असंलग्नता की बात तो अभी चार दिन की है। उसकी उद्भावना का कारण पुस्तकों आदि का टाइप द्वारा छपना है। उसके पहले तो यह बात किसीके ध्यान में भी न आई होगी; क्योंकि स्पेस देने, अर्थात् शब्दों के बीच में जगह छोड़ने के उत्पादक "स्पेस" ही हैं। अतएव जो संलग्नता के पक्षपाती हैं अथवा जो कागज़ के खर्च में कुछ बचत करना चाहते हैं वे, मराठीभाषा के लेखकों की तरह, खुशी से विभक्तियों को शब्दों के साथ मिला कर लिखें। परन्तु जो उनकी इस प्रणाली के अनुयायी नहीं उनपर आक्षेप करने और उनकी हंसी उड़ाने के लिए व्याकरण उन्हें शरण नहीं दे सकता। जो प्रणाली अधिक सुभीते की होगी या जिसका आश्रय अधिक लेखक लेंगे वह आप ही चल जायगी और उसकी विपरीत प्रणाली परित्यक्त हो जायगी। लिपि की सादृश्य-रक्षा के ख़याल से यदि इस विवाद की नींव डाली गई हो तो बलवत् कोई किसीकी रुचि या आदत को नहीं बदल सकता। जिन्हें विभक्तियां अलग लिखना ही अच्छा लगता है और जो जान बूझकर वैसा लिखना नहीं छोड़ते, दुर्वाक्यों का प्रयोग उन्हें

उनके निश्चय से नहीं विचलित कर सकता; उलटा वह उसे और दृढ़ अवश्य कर सकता है।

जीती जागती भाषा होने के कारण, हिन्दी का उपचय हो रहा है। उसमें नये नये शब्द, नये नये भाव, नये नये मुहावरे आते जाते हैं। यह कोई अस्वाभाविक या अचम्भे की बात नहीं। सभी सजीव भाषाओं में यह होता है। पर, इस बात की ओर विशेष ध्यान न देकर, लिङ्ग-निर्देश के विषय में, कभी कभी बड़ा विवाद—नहीं, वितण्डा-वाद तक खड़ा हो जाता है और यदा कदा वह कुत्सा और विकत्थना का भी रूप धारण कर लेता है।

श्याम-शब्द संस्कृत-भाषा का है। उसमें तालव्य श् है। वह ज्यों का त्यों हिन्दी में आ गया है, अर्थात् वह तत्सम शब्द है। अब कल्पना कीजिए कि श्याममनोहर नाम के किसी एक लेखक ने, अपने नाम के पूर्वार्ध श्याम में, तालव्य श् के बदले दन्त्य स् लिख दिया। यह देखकर हिन्दी के समालोचक बिगड़ उठे और लगे उसकी खबर लेने। उन्होंने दन्त्य स् का प्रयोग अशुद्ध ठहराया। उनकी यह पकड़ सर्वथा उचित है। और भी यदि दो चार भूले-भटके लेखक इस शब्द में दन्त्य स् का प्रयोग करें तो उनका भी वह प्रयोग अवश्य ही अशुद्ध माना जायगा। परन्तु यदि श्याममनोहर के सैकड़ों अनुयायी उत्पन्न हो जायँ और वे भी, जान बूझकर, तालव्य के स्थान में दन्त्य ही स् लिखने लगें तो क्या हो? तो क्या वह शब्द तब भी अशुद्ध ही माना जा सकेगा? यदि माना जाय तो कहना पड़ेगा कि हिन्दी

भाषा मर गई! तो यही समझना होगा कि वाग्धारा का प्रवाह सेवक है और व्याकरण उसका स्वामी। परन्तु यह बात नितान्त अस्वाभाविक और बेजड़ है। व्याकरण तो वाग्धारा का दास है। स्वामित्व उसके भाग्य में कहाँ?

व्याकरण का काम सिर्फ इतना ही है कि लोग जैसी भाषा बोलें या लिखें उसका वह सङ्कति-मात्र लगादे; उसके नियम-मात्र वह बता दे। उसे यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि तुम इसी तरह बोलो, या इसी तरह लिखो, या इस शब्द का प्रयोग इसी लिङ्ग में करो। इस तरह का विधान करनेवाला व्याकरण कौन है? उसे तो शिष्ट लेखकों और वक्ताओं की आज्ञा के पालन-मात्र का काम सौंपा गया है। उसे वह करे। यदि वह उसके आगे जायगा तो आज्ञोल्लङ्घन का अपराधी होगा। दो आज्ञाओं के पेंच में पड़ने पर उसका कर्तव्य केवल इतना ही है कि दोनों प्रकार के प्रयोगों को वह साधु प्रयोग माने—वह कहे कि श्याम भी ठीक है और स्याम भी। अपप्रयोग तभी तक माना जा सकता है जब तक भ्रम या अज्ञान के वशवर्ती होकर, कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि को, प्रचलित रीति के प्रतिकूल, बोलते या लिखते हैं। परन्तु यदि धीरे धीरे सैकड़ों मनुष्य उसे उसी तरह लिखने लगते हैं तब वह अपप्रयोग नहीं रह जाता; तब तो वह भी साधु प्रयोग हो जाता है।

हिन्दी में दही-शब्द पुंलिङ्ग (संस्कृत, पुंलिङ्ग) माना जाता है। क्योंकि अधिकतर बोलने और लिखनेवाले उसे उसी

लिङ्ग में व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि ज़िले के ज़िले और प्रान्त के प्रान्त उसे स्त्री-लिङ्ग में व्यवहार करें—और मैं सुनता हूं कि बिहार-प्रान्त में हज़ारों आदमी ऐसा करते भी हैं—तो वह उभय-लिङ्गी हो जायगा। न तो देहली, आगरे, लखनऊ, कानपुर और बनारसवालों ही को भगवती वाग्देवी ने इस बात का इजारा दे रक्खा है कि लिङ्गनिश्चय करने के वही अधिकारी हैं, और न किसी वैयाकरण ही को इस तरह का कोई अनुशासन-पत्र उससे मिला है। जिस शब्द का प्रयोग जिस लिङ्ग में लोग करेंगे वह उसी लिङ्ग का समझा जायगा। यदि दोनों लिङ्गों में वह बोला जाता होगा तो वह उभयलिङ्गी हो जायगा।

जितनी भाषायें हैं सब अपनी अपनी विशेषता रखती हैं। उनके शिष्ट लेखक जिस शब्द को जिस लिङ्ग का मान लेते हैं वही लिङ्ग उसका हो जाता है। Moon अर्थात् चन्द्रमा में क्या किसीने स्त्रीत्व का कोई चिह्न न देखा है? फिर वह अंगरेज़ी-भाषा में क्यों स्त्री-लिङ्ग हो गया? अमेरिका, फ्रांस, इँगलैंड, जर्मनी आदि देशों और महादेशों में क्या स्त्रियां ही स्त्रियां रहती हैं? फिर वे स्त्री-लिङ्ग कैसे हो गये? इस तरह की विलक्षणता से शायद कोई भी भाषा खाली न होगी। संस्कृत-भाषा तो विलक्षणताओं की खान ही है। देखिए—

(१) पत्ति-शब्द पुंलिङ्ग भी है और स्त्रीलिङ्ग भी।

(२) दिव्य-शब्द विशेषण भी है, पुल्लिङ्ग भी है और क्लीव लिङ्ग भी।

(३) साधु-शब्द विशेषण भी है, अव्यय भी है, पुल्लिङ्ग भी है और स्त्री-लिङ्ग भी।

संस्कृत-भाषा के कुछ शब्द तो वाग्धारा के और भी अधिक विभागों में घुस गये हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी विलक्षणता का ठिकाना ही नहीं।

संस्कृत में एक शब्द है दार। वह जब दर्ज या छेद के अर्थ में आता है तब तो पुंलिङ्ग होता ही है; पर जब स्त्री या पत्नी के अर्थ में आता है तब भी पुल्लिङ्ग ही बना रहता है और इतनी विशेषता या विलक्षणता और भी धारण कर लेता है कि बहु-वचन बनकर वह दाराः हो जाता है। इस दशा में चाहे वह एक ही पत्नी का बोधक क्यों न हो, अपना बहुत्व वह नहीं छोड़ता। अब, कहिए, वैयाकरण बेचारे किस किस शब्द के लिङ्ग-निर्देश की भूलें बतावेंगे। सच तो यह है कि ये भूलें नहीं। बोलने और लिखनेवालों ने जिस शब्द का प्रयोग जिस लिङ्ग में जिस तरह किया है वैयाकरणों ने केवल उसका उल्लेख कर दिया है—केवल उन प्रयोगों को सङ्गति लगा कर उन्हें नियमबद्ध कर दिया है।

हिन्दी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूपों में सादृश्य रहे। वे किसी न किसी नियम के अधीन जरूर रहें। एक उदाहरण लीजिए। वे कहते हैं कि जाना-धातु का, भूत-काल में, पुल्लिङ्ग-रूप होता है "गया"। अतएव स्त्रीलिङ्ग में

वह होना चाहिए 'गयी" अर्थात् उस गई में अकेली ई-कारही न रहे, य् अर्थात् य-कार को भी वह अपने साथ रक्खे। "गया" का उद्भव हुआ है "जाना" धातु से। उस "जाना" में न ग-कारही है और न य-कार ही। सो 'गया" में "जाना" धातु के दोनों वर्णों का सर्वथा लोप हो जाना तो उन्हें सह्य है; पर "गया" के स्त्री-लिङ्ग में यदि य-कार का लोप कर दिया जाय तो वह उन्हें सह्य नहीं! कुछ लोग तो इसके भी आगे जाते हैं। वे "लिया" और "दिया" के रूप, स्त्री-लिङ्ग में, "ली" और "दी" न लिख कर "लिई" और "दिई" लिखने की सलाह देते हैं। और एक सज्जन ने तो, कुछ समय तक, इस सलाह को कार्य में परिणत भी कर दिखाया है। यह बात इतनी ही नहीं; इसके भी बहुत आगे बढ़ गई है। सरलता के कुछ पक्षपातियों की राय तो यह है कि क्रियाओं को लिङ्ग-भेद के झमेले से एकदम ही मुक्त कर देना चाहिए, जिससे बङ्गालियों, मदरासियों और महाराष्ट्र-देश के वासियों को हिन्दी सीखने में सुभीता हो और महीने ही दे। महीने में वे हमारी भाषा के सुपण्डित हो जायं।

इन महाशयों के बाद, विवाद, शास्त्रार्थ, तर्क और कभी कभी कुतर्क भी सुन कर इन्द्र, चन्द्र, शाकटायन और पाणिनि आदि की आत्मायें क्या कहती होंगी, सोते भगवान ही जानें। हां, इतना तो वे ज़रूर ही कहती होंगी कि भला जीती-जागती भाषाओं की वाग्धारा का प्रवाह भी किसी वैयाकरण या भाषावेत्ता या लेखकोत्तंस के रोकने से रुक

सकता है ? सिन्धु या ब्रह्मपुत्र का प्रवाह क्या दो चार पूले तृण डाल देने से बन्द हो सकता है ? यदि ऐसा होता तो हम लोगों को जगह जगह पर विभाषा और विकल्प की दुहाई क्यों देनी पड़ती ? जगह जगह पर क्यों हमें अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की शरण जा कर यह कहना पड़ता कि अमुक आचार्य्य इस प्रयोग या इस शब्द के इस रूप को भी शुद्ध मानता है और अमुक उस रूप को भी ? क्यों हमें अनेक बार इस बात का निर्देश करना पड़ता कि पूर्ववाले इस तरह बोलते या लिखते हैं और पश्चिमवाले इस तरह ? सौ बात की बात यह कि वक्ताओं का मुंह और लेखकों की लेखनी वैयाकरण नहीं बन्द कर सकते।

एक शब्द या एक पद दो तरह भी लिखा जा सकता है और यदि दोनों रूपों के आश्रयदाता शिष्ट जन हैं तो वे दोनों ही प्रचलित हो जाते हैं और दोनों ही शुद्ध माने जाते हैं। इसमें न तर्क काम देता है, न व्याकरण, न कोश। संस्कृत-शब्द कोसल दन्त्य स् से भी लिखा जाता है और तालव्य श् से भी। स्वयं कोष शब्द को मूर्द्धन्य ष् और तालव्य श् दोनों को आश्रय देना पड़ा है।

धातु-रूपों का भी यही हाल है। उनमें भी सभी कहीं नियमों का एकाधिकार नहीं। श्री और स्त्री शब्द दोनों शहश हैं। दोनों का वजन भी एक ही सा है। पर कर्तृ-कारक, प्रथमा-विभक्ति, में स्त्री तो स्त्री ही रह जाती है, श्री के आगे विसर्ग कूद पड़ते हैं और वह श्रीः में परिवर्तित हो

जाती है। अब उलटी विचित्रता देखिए। द्वितीया-विभक्ति के योग में श्री-शब्द का एक-वचनान्त रूप होता है श्रियम् और बहुवचनान्त श्रियः। इसी तरह स्त्री-शब्द के भी रूप होते हैं—स्त्रियम् और स्त्रियः। परन्तु जिस ज़माने में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी उस ज़माने में कुछ लोग वैसे ही बिगड़े-दिल थे जैसे आज कल "गया" के स्त्रीलिङ्ग में य-कार का बहिष्कार कर के केवल ई-कार का स्वीकार करने-वाले हैं। वे स्त्रियम् और स्त्रियः के बदले "स्त्रीम्" और "स्त्रीः" लिखते और बोलते रहे। नतीजा यह हुआ कि वैयाकरणों को झखमार कर उनके स्वीकृत रूपों को भी शुद्ध ही मानना पड़ा।

संस्कृत-भाषा में क्रियाओं के रूपों की विलक्षणताओं के उदाहरण देकर इस वक्तव्य को मैं जटिल नहीं बनाना चाहता। इससे उन्हें छोड़ता हूं।

निष्कर्ष यह कि वाग्धारा का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। एक शब्द या एक पद दो रूपों में प्रचलित हो सकता है और प्रचलित हो जाने से वैयाकरणों को अपने व्याकरणों में दोनों ही को स्थान देना पड़ता है। कोई लेखक भ्रमवश किसी शब्द का विरूप प्रयोग करे तो वह अवश्य अशुद्ध है। पर शिष्ट लेखकों के द्वारा जान बूझ कर किये गये ऐसे प्रयोग अशुद्धि की कोटि से निकल कर शुद्धि की कोटि में चले जाते हैं। इस विभिन्नता या इस दृश्य को देख कर किसीका उपहास करना स्वयं अपने को उपहास्य बनाना है। हाथी के लिए यदि कोई यह

कह दे कि वह आती है तो हिन्दी के वैयाकरण उसका मज़ाक़ ज़रूर उड़ावें। पर हाथीही का पर्य्यायवाची शब्द करेणु, संस्कृत में, पुल्लिङ्ग भी है और स्त्री-लिङ्ग भी!

इस निवेदन से मेरा यह मतलब नहीं कि हिन्दी-रचना और देवनागरी-लिपि में अनाचार या कामचार से काम लिया जाय। मैं ग़दर का पक्षपाती नहीं। ग़दर मचानेवालों की तो कहीं भी गुज़र नहीं। पकड़े जाने पर उन्हें अवश्य ही दण्ड दिया जाय। उनका निग्रह होनाही चाहिए। पर शिष्ट लेखकों के अनुगामी लोग बाग़ी या अपराधी न समझे जायँ।

१४—कविता की भाषा।

अभी कुछ समय पहले तक जो लोग कविता या पद्यरचना में बोल-चाल की भाषा काम में लाते थे उनकी बेतरह ख़बर ली जाती थी। वे शाखामृग और लम्बकर्ण आदि उपाधियों से विभूषित किये जाते थे। इन उपाधिदाताओं की आवाज़ अब बहुत ही विरल और धीमी पड़ गई है। पर अब भी, कभी कभी, उसे सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। तथापि समय ने दिखा दिया है कि उनकी युक्तियों और विभीषिकाओं में कितना सार था और उनकी दी हुई उन उदारतासूचक उपाधियों के पात्र कौन हैं। अतएव इस विषय में और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं।

मेरा यह वक्तव्य आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया। इससे, सम्भव है, आप सभापति महोदय के विद्वत्तापूर्ण और महत्तामय भाषण सुनने के लिए उतावाले हो रहे होंगे। अत-

अतएव अब मैं कुछ थोड़ा ही सा और निवेदन करके इस पँवारे को पूर्त्ति करना चाहता हूं। अतएव दो चार मिनट का समय मुझे और देने की उदारता दिखाई जाय।

१५—मुंड़िया-लिपि के दोष।

जिस लिपि में उर्दू लिखी जाती है वह अरबी या फ़ारसी-लिपि है। कुछ समय पहले इस लिपि में बड़े बड़े दोष दिखाये जाते थे। उसका मज़ाक़ उड़ाया जाता था और यह कह कर उसका उपहास किया जाता था कि इस लिपि में किश्ती का कसबी और हिल्म का चिलम पढ़ा जासकता है। एक महाशय ने तो इस विषय की एक पुस्तक तक लिख डाली है। नाम शायद उसका है–उर्दू बेगम। निवेदन यह है कि दोष ढूंढ़ने ही के लिए यदि पैनी बुद्धि का कोई मनुष्य लिपियों की आलोचना करे तो ऐसी लिपि शायद ही कोई निकले जो सर्वथा निर्दोष हो। बात यह है कि प्रत्येक भाषा और प्रत्येक लिपि की प्रकृति जुदा जुदा है; वह अपने ही देशजन्य भावों और शब्दों को अच्छी तरह प्रकट कर सकती है। तथापि वह निर्दोषता का दावा नहीं कर सकती। अपनी जिस देवनागरी-लिपि को हम सबसे अच्छी लिपि समझते हैं वह भी तो निर्दोष नहीं मानी जाती। उसकी सदोषता विदेशी ही नहीं, ऐसे स्वदेशी विद्वान् भी दिखाने और उसे दूर करने के उपाय बताने लगे हैं जो उसके उपासक हैं। परन्तु इस बात को जाने दीजिए। विचार इस बात का कीजिए कि जब हम औरों की लिपि के दोष दिखाने के लिए पुस्तकें तक लिख डालने

का श्रम उठाते हैं तब अपनी निज की महाजनी-लिपि की सदोषता की ओर हमारा ध्यान क्यों नहीं जाता? इसका कारण मनुष्य-स्वभाव के सिवा और कुछ नहीं। उसे अपने दोष नहीं दिखाई देते।

महाजनी-लिपि से मेरा अभिप्राय उस लिपि से है जो मुँड़िया कहाती है और जिसकी तूती इस कानपुर नगर के बाज़ार बाज़ार, महल्ले महल्ले, गली गली और दूकान दूकान बोल रही है। इस लिपि में लिखा गया—**अजमेर गया**—क्या "आज मर गया" नहीं पढ़ा जाता? **कलट्टर-गञ्ज**—क्या "कोलटार-गञ्ज" या "कलट्टरी-गाञ्ज" नहीं हो जाता? **हालसी रोड**—क्या "हलसा रोड़ा" या "हुलसी रौंड़" नहीं बन जाता? पर इतनी सदोषता होने पर भी हम लोगों ने कभी उसके परित्याग के लिए न सही, सुधार के लिए भी तो प्रयत्न नहीं किया! यह कोई विदेशी-लिपि नहीं; यह तो देवनागरी-लिपि ही का कटा-छँटा अमात्रिक रूप है। भाइयो, दूसरोंके दोष देखने के पहले नहीं, तो पीछे ही, अपने दोषों पर नज़र डालिए। कहा जा सकता है कि मात्राओं का झंझट न होने के कारण यह लिपि शीघ्रता से लिखी जाती है। इसीसे इसका प्रचार है। यदि यह उज़्र ठीक भी हो, तो भी क्या इस इतने सुभीते के लिए इतनी दोषपूर्ण लिपि को आश्रय देना बुद्धिमानी का काम है? यदि देवनागरी-लिपि प्रायः निर्दोष हो, यदि उसको

आश्रय देने से मातृभाषा-प्रेम जागृत होता हो और यदि उसे अपनाने से जातीयता, देशभक्ति और धार्म्मिकता की वृद्धि होती हो तो मुँड़िया का स्थान क्या देवनागरी को न दे देना चाहिए? अभ्यास बढ़ने से देवनागरी भी शीघ्रता से लिखी जा सकती है। पर यदि न भी लिखी जा सके तो भी क्या हमें अपनी जातीय लिपि का व्यवहार न करना चाहिए? चीनी और जापानी लिपियों के ज्ञाता कहते हैं कि उनसे बढ़कर दोषपूर्ण और देर में लिखी जानेवाली लिपियां संसार में और नहीं। पर क्या चीनी और जापानी महाजन और व्यवसायी उनका व्यवहार नहीं करते? जिस अरबी-लिपि में तुर्की और फ़ारसी भाषायें लिखी जाती हैं उसका व्यवहार क्या मिश्र, अरब, फ़ारिस, सीरिया, तुर्की और अफ़ग़ानिस्तान के व्यवसायियों ने छोड़ दिया है? अतएव इस सम्मेलन में उपस्थित सज्जन यदि इस विषय में और कुछ न करना चाहें तो इतना ही मानलेने की कृपा कर दें कि मुँड़िया के बदले, धीरे धीरे, देवनागरी-लिपि का प्रयोग करना ही उचित है। लिपि-परिचय हो जाने से हिन्दी भाषा की अच्छी अच्छी पुस्तकें पढ़ने की ओर प्रवृत्ति हो सकती है। उपन्यास और काव्य पढ़ने से मनोरञ्जन हो सकता है; धार्म्मिक पुस्तकें पढ़ने से धर्म्म-ज्ञान बढ़ सकता है; समाचारपत्र पढ़ने से विशेषज्ञता प्राप्त हो सकती है। व्यापार-विषयक पुस्तकें पढ़ने से व्यापार-कौशल की वृद्धि हो सकती है।

भाइयो, ज्ञानार्जन का सब से बड़ा साधन पुस्तकें हैं। जो

मनुष्य इस साधन से वञ्चित हैं वे इस ज़माने में अपनी यथेष्ट उन्नति कदापि नहीं कर सकते। अब, कहिए, क्या यह साधन केवल मुँड़िया-लिपि जाननेवालों को भी सुलभ है? नहीं है। अतएव इस लिपि का व्यवहार करनेवालों का कर्त्तव्य है कि वे इसके बदले देवनागरी-लिपि से काम लें और यदि, किसी कारण से, यह न कर सकें तो अपनी जातीय लिपि, न जानते हों तो, सीख तो ज़रूर ही लें। सन्तोष की बात है कि इस नगर के अनेक महाजन, व्यवसायी और दूकानदार देवनागरी-लिपि अच्छी तरह जानते हैं और उससे हार्दिक प्रेम भी रखते हैं। जैसा कि एक जगह पहले मैं निवेदन कर आया हूं, हिन्दी-कवियों को सैकड़ों रुपये पुरस्कार देनेवाले और सम्मेलन के इस अधिवेशन को विशेष सहायता पहुंचानेवाले भी वही हैं।

१६—उर्दू के विषय में विचार।

अभी—अभी मैं उस लिपि की सदोषता का उल्लेख कर चुका हूं जिसमें अरबी, फारसी और तुर्की भाषायें लिखी जाती हैं। उर्दू भी उसी में लिखी जाती है। पर उसके दोषपूर्ण होने के कारण हमें उसका उपहास न करना चाहिए और घृणा तो उससे कभी करनी ही न चाहिए। हिन्दू और मुसलमान इस देशरूपी शरीर की दो आंखें हैं। एक आंख के विकृत होने से क्या कोई उसे निकाल बाहर करता है? क्या कोई उससे नफ़रत करता है? इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी ही हमारी जातीय भाषा और देवनागरी ही हमारी जातीय लिपि है अथवा हो सकती है। दिन पर दिन इनके विस्तार की वृद्धि

देख कर वे लोग भी इनकी उपयोगिता और देशव्यापक होने की योग्यता के क़ायल होते जारहे हैं, जिनका सम्बन्ध इनसे बहुत दूर का है अथवा है ही नहीं। तथापि, जहां तक हो सके हमें अपने मुसलमान भाइयों की भाषा और लिपि भी सीखनी चाहिए। बिना ऐसा किये पारस्परिक प्रेम, ऐक्य और घनिष्ठता की संस्थापना नहीं हो सकती। जब हम हज़ारों कोस दूर रहनेवाले विदेशियों की—अंगरेज़, फ्रेंच और जर्मन लोगों को—भाषायें सीखते हैं तब कोई कारण नहीं कि हम उनकी भाषा और लिपि न सीखें जो हमारे पड़ोसी हैं, जिनका और हमारा भाग्य एक ही सूत्र से बँधा हुआ है और जिनका और हमारा चोली-दामन का साथ है। मेरा तो यह विचार है कि हमें उर्दू, फ़ारसी ही नहीं, हो सके तो अरबी भाषा का भी ज्ञान-सम्पादन करना चाहिए, क्योंकि उसके साहित्य में अनन्त ज्ञान-राशि भरी हुई है और ज्ञान चाहे जहां मिलता हो उसकी प्राप्ति प्रयत्नपूर्वक करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। परन्तु इससे यह मतलब नहीं कि हम अपनी भाषा और अपनी लिपि सीखने और उसे उन्नत करने के कर्तव्य की अवहेलना करें। नहीं, हमें पहले उनको आयत्त करके तब अन्य भाषायें सीखनी चाहिए। चूंकि हिन्दी ही भारत की व्यापक भाषा हो सकती है और अपने प्रान्तों के निवासियों में अधिक संख्या उसीके ज्ञाताओं की है, इसलिए उस का प्रचार बढ़ाने और सरकारी दफ़्तरों में उसी की प्रवेशप्राप्ति के लिए चेष्टा भी करनी चाहिए।

यद्यपि कुछ मुसलमान भाइयों की प्रवृत्ति हिन्दी भी सीखने

की ओर होरही है—कुछ इने गिने सज्जनों ने तो संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है—तथापि, बड़े खेद की बात है, वे साधारणतः हमारी भाषा और हमारी लिपि की ओर पूर्ववत् ही उदासीन हैं; अधिकांश तो उसके प्रचार और उसकी उन्नति के मार्ग में विघ्न-बाधायें तक उपस्थित करते हैं, विरोध करना तो कुछ बात ही नहीं। परन्तु यदि वे अनुचित पक्षपात छोड़ कर, अपने जन-समुदाय और अपने देश के हानि-लाभ का विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि इस विषय में उनकी उदासीनता और उनका विरोधभाव हम दोनों ही के हित का विघातक है। वे अपनी लिपि और जिसे वे अपनी भाषा कहते हैं उसकी उन्नति खुशी से करें; पर साथ ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को भी यथाशक्ति सीखना उन्हें अपना कर्तव्य समझना चाहिए। सैकड़ों साल से लाखों हिन्दू उर्दू ही नहीं, फ़ारसी तक पढ़ते और लिखते चले आ रहे हैं और अब भी पढ़ते लिखते हैं। इस दशा में क्या उनका भी यह कर्तव्य न होना चाहिए कि वे हमारी भाषा और हमारी लिपि सीखें? यदि वे, अभाग्यवश, अपने इस कर्तव्य-पालन से पराङ्मुख रहने ही में अपना कल्याण समझें तो भी हमें उनकी लिपि का परित्याग न करना चाहिए। उससे घृणा तो कदापि करनी ही न चाहिए। उनकी उर्दू कोई जुदा भाषा नहीं। वह भी हिन्दी ही है। यदि कुछ अन्तर है तो केवल इतना ही कि उसमें अरबी, फ़ारसी के शब्दों का संमिश्रण कहीं कम और कहीं अधिक रहता है। बस, और कुछ नहीं।

१७—रोमन-लिपि के भावी आक्रमण से भय।

जिस फ़ारसी-लिपि में उर्दू लिखी जाती है वह और देवनागरी-लिपि इस देश में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित हैं और जब तक हिन्दुओं और मुसल्मानों का अस्तित्व है तब तक शायद प्रचलित रहेंगी। उनके पक्षपातियों में पारस्परिक विरोध न होना चाहिए और यदि दुर्दैववश हो भी जाय तो उससे विशेष भय नहीं। भय एक और ही लिपि के आक्रमण से है और दोनों ही को है—हिन्दुओं को भी और मुसल्मानों को भी। इस आक्रमण का सूत्रपात भी हो गया है। यह लिपि रोमन-लिपि है।

जिस तरह हमारे वर्ण-विभाग, हमारे जाति-भेद, हमारे आचार-विचार आदि में कुछ लोगों को—और इन लोगों में हमारे दो चार स्वदेशी सपूत भी शामिल हैं—दोष ही दोष देख पड़ते हैं वैसे ही उन्हें हमारी देवनागरी-लिपि में भी दोष ही दोष देख पड़ते हैं, गुण एक भी नहीं। वे कहते हैं कि हमारी लिपि किसी काम की नहीं। वह सुडौल और सुन्दर नहीं; वह जगह बहुत घेरती है; वह शीघ्रतापूर्वक लिखी नहीं जाती। उसमें अक्षरों की अनावश्यक अधिकता है। ह्रस्व-दीर्घ की, संयुक्ताक्षरों की, षत्व और णत्व की जटिलता के कारण वह और भी क्लिष्ट हो गई है। फल यह हुआ है कि छोटे छोटे बच्चों को उसे सीखने में बहुत कष्ट मिलता है; महीनों का काम वर्षों में होता है; शिक्षा-सम्पादन में बहुत विघ्न आता है। यदि उसका बहिष्कार कर दिया जाय और

उसकी जगह रोमन लिपि को दे दी जाय तो सारी मुसीबतें हल हो जायँ। इन उदारहृदयों और परदुःखकातरों की दलीलों की असारता एक नहीं अनेक बार खोल कर दिखाई जा चुकी है और इनकी प्रत्येक युक्ति का खण्डन किया जा चुका है। पर हम लोगों के ये अकारण-हितकांक्षी फिर भी अपना राग आलापना बन्द नहीं करते। अब इनके इस आलाप की ध्वनि बङ्गाल की गवर्नमेंट के कानों तक भी पहुँची है और उसने इन्हें दाद देने का भी विचार किया है।

कुछ दिन हुए, कलकत्ता-गैज़ट में एक मन्तव्य प्रकाशित करके बङ्गाल की गवर्नमेंट ने बङ्गवासियों से पूछा है कि तुम्हारे सदोष बङ्गाक्षरों का बहिष्कार करके यदि प्रारम्भिक पाठ-शालाओं में रोमन-अक्षरों का प्रचार कर दिया जाय तो तुम्हें कोई एतराज़ तो न होगा। इस पर ये लोग क्या कहेंगे या क्या राय देंगे, इस बात को जाने दीजिए। विचार केवल इस बात का कीजिए कि बङ्गाक्षरों की उत्पत्ति देवनागरी ही अक्षरों से है। जब उनपर रोमन-लिपि के आक्रमण का सूत्रपात हो रहा है तब देवनागरी-लिपि भी कब तक अपनी ख़ैर मना सकेगी और फ़ारसी-लिपि भी क्या उसके आक्रमण से बच सकेगी? इसीसे मेरा निवेदन है कि इन दोनों ही लिपियों को रोमन के आक्रमण से एक सा भय है।

इस चढ़ाई का समाचार सुन कर हमें सजग हो जाना चाहिए और भावी भय से अपनी जातीय लिपि को बचाने का उपाय यथाशक्ति करना चाहिए। सरकार तो एक हिसाब से

रोमन-लिपि को अपना थोड़ा बहुत आश्रय दे भी चुकी है। पर उसकी ख़बर हम लोगों में से बहुतों को शायद न होगी। देशी फ़ौजों के लिए क़वायद, परेड वग़ैरह की जो पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनमेंसे कुछ पुस्तकें रोमन-लिपि में भी छपती हैं। अब यदि यह बात यहीं तक रहे तो भी ग़नीमत समझिए। अँगरेज़ी भाषा ने अपने देश की भाषाओं को बहुत कुछ दबा ही लिया है। यदि रोमन-लिपि हमारी लिपियों पर भी आक्रमण कर के प्रारम्भिक पाठशालाओं में पहुँच जायगी तो रोग असाध्य नहीं, तो कष्टसाध्य जरूर हो जायगा। भगवान् न करे कभी ऐसा दिन आवे; पर यदि दुर्भाग्य से आ ही जाय तो हमारी और हमारी जातीयता की अपरिमेय हानि हो जायगी। अतएव हमें अभीसे साव-धान हो जाना चाहिए और प्रतिकार का उद्योग करना चाहिए।

१८—उपसंहार।

हिन्दी को उन्नति के लिए अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। सच तो यह है कि उसके उन्नति-सम्बन्धी कार्य्य की सीमा ही नहीं; वह तो निःसीम है। क्योंकि ऐसा समय कभी आने ही का नहीं जब यह कहा जा सके कि हिन्दी-साहित्य उन्नति की चरम सीमा को पहुंच गया; और अधिक उन्नति के लिए अब जगह ही नहीं। बात यह है कि ज्ञान अनन्त है। उसकी पूर्णता को प्राप्त कर लेना क्षुद्र मनुष्य के बुद्धि-वैभव और पहुँच की मर्य्यादा से बाहर है।

तथापि मनुष्य श्रम, खोज, अनुभव, अध्ययन और चिन्तन के द्वारा ज्ञान का उपार्जन, दिन पर दिन, अधिकाधिक कर सकता है। संसार की समस्त भाषाओं में आज तक ज्ञान का जितना सञ्चय हुआ है वह इसी तरह धीरे धीरे हुआ है। यदि यह समस्त ज्ञान-राशि हिन्दी-भाषा के साहित्य में भर दी जाय तो भी भावी ज्ञानार्जन के सन्निवेश की आवश्यकता बनी ही रहेगी। इस दशा में, हिन्दी ही के नहीं, किसी भी भाषा के साहित्य की उन्नति का काम प्रलयपर्य्यन्त बराबर जारी रह सकता है। ज्ञानार्जन की इस अनन्त मर्य्यादा की ओर बढ़ने के बड़े बड़े काम बड़े बड़े ज्ञानियों, विज्ञानियों, ग्रन्थकारों और साहित्य-सेवियों को करने दीजिए। वह काम उन्हीं का है। पर साथ ही, परिमित विद्या, बुद्धि, योग्यता और शक्ति के आधार, साधारण जनों का भी तो कुछ कर्तव्य होना चाहिए। अपनी मातृ-भाषा का जो ऋण उनपर है उससे उद्धार होने के लिए उन्हें भी तो कुछ करना चाहिए।

अच्छा, तो आइए, हम जैसे परिमित-शक्तिशाली जन यह प्रण करें कि आज से हम अपने कुटुम्बियों, अपने मित्रों और इतर ऐसे लोगों के साथ जो हिन्दी लिख-पढ़ सकते हैं, बिना विशेष कारण के, कभी किसी अन्य भाषा में पत्र-व्यवहार न करेंगे और बातचीत में कभी, बीच बीच, अँगरेज़ी भाषा के शब्दों का अकारण प्रयोग करके अपनी भाषा को न बिगाड़ेंगे—उसे वर्णसङ्करी, उसे दोग़ली, न बनावेंगे। कितने परिताप और कितनी लज्जा की बात है कि पिता अपने पुत्र

को, भाई अपने भाई को, चचा अपने भतीजे को और मित्र अपनेही देशवासी, अपनेही प्रान्तवासी, अपनेही नगरवासी मित्र को अपनी मातृभाषा में पत्र न लिख कर, किसी विदेशी भाषा में पत्र लिखे। ऐसा अस्वाभाविक दृश्य, इस अभागे भारत को छोड़ कर, धरातल पर क्या किसी और भी देश में देखा जाता है? क्या कभी कोई जापानी अन्य जापानी को अंगरेज़ी भाषा में अथवा क्या कभी कोई अंगरेज़ किसी अन्य अंगरेज़ को रूसी, तुर्की या फ्रांस की भाषा में पत्र लिखकर अपने विचार प्रकट करता है? अनुन्नत होने पर भी क्या अपनी हिन्दी-भाषा इतनी दरिद्र है कि सब प्रकार के साधारण विचार प्रकट करने के लिए उसमें यथेष्ट शब्दसामग्रीही नहीं? यदि यह बात नहीं तो फिर क्यों हम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी बोलते समय, बीच बीच में, अंगरेज़ी भाषा के शब्दों का प्रयोग करें और क्यों घरेलू पत्रव्यवहार में भी उसी भाषा का मुंह ताकें? आफ़रीका के असभ्य हबशियों तक के समस्त जीवन-व्यापार जब उन्हींकी नितान्त समृद्धिहीन बोलियों और भाषाओं से चल सकते हैं तब क्या हमारी भाषा उनसे भी अधिक कङ्गालिनी है जो हम उससे काम नहीं लेते? यह और कुछ नहीं। यह केवल हमारे अज्ञान, हमारे अविवेक, हमारी अदूरदर्शिता का विजृम्भण है। यदि हममें आत्मगौरव की, यदि हममें स्वदेश-प्रेम की, यदि हममें मातृभाषाभक्ति की यथेष्ट मात्रा विद्यमान होती तो ऐसे अस्वाभाविक व्यापार से हम सदा दूर रहते। यदि हम चाहते हों कि हमारा कल्याण

हो तो अब हमें अपनी इस बुरी आदत को एकदम ही छोड़ देना चाहिए।

मेरा यह कदापि मतलब नहीं कि आप विदेशी भाषायें न सीखिए। विदेशी भाषाओं के द्वारा अपने विचार न प्रकट कीजिए; विदेशी भाषाओं में पत्र न लिखिए। अंगरेज़ीही नहीं, आप अरबी, फ़ारसी तुर्की, फ्रेञ्च, जर्म्मन, लैटिन, ग्रीक और हेब्रू आदि, ज़िन्दा या मुर्दा, जितनी भाषायें चाहें सीख कर उनमें निबद्ध ज्ञान-राशि का अर्जन कीजिए। जो लोग अपनी भाषा नहीं जानते उनसे, आवश्यकता पड़ने पर, उन्हीं की भाषा में बातचीत भी कीजिए और उन्हीं की भाषा में पत्र-व्यवहार भी। अपना रोब दिखाने और योग्यता या प्रभुता की धाक जमाने के लिए भी, यदि आपसे रहाही न जाय तो, क्षण भर, अँगरेज़ी या अन्य विदेशी भाषाओं में अपने मानसिक विचार प्रकट कीजिए। पर, परमेश्वर के लिए—अपने और अपने देश के हित के लिए—बोलचाल में, अपनी भाषा के पावन क्षेत्र में, वर्ण-साङ्कर्य्य का अपावन बीज न बोइए और अपने आत्मीयों आदि के साथ, अकारणही, विदेशी भाषाओं में पत्रव्यवहार न कीजिए। अपनी मातृभाषा के सम्बन्ध के इस इतने भी कर्त्तव्य का पालन यदि हम न करेंगे तो मुझे खेद के साथ यही कहना पड़ेगा कि उस अभागिनी की उन्नति की अभी विशेष आशा नहीं—अथवा मिस्टर मांटेगू और लार्ड हार्डिंग के द्वारा उद्धृत की गई फ़ारसी की पुरानी मसल के अनुसार "हनोज़ देहली दूरस्त"।

१६—अपनी व्यक्तिगत अन्तिम प्रार्थना।

अब आप मुझे अपनी व्यक्तिगत अन्तिम प्रार्थना के लिए क्षमा प्रदान करें।

इस वक्तव्य के आरम्भ में मैं आपकी मानसिक पूजा कर चुका हूं। पूजान्त में साधक अपने इष्टदेव से कुछ माँगता भी है—वह अपनी अभिलषित वाञ्छा की पूर्ति के लिए कुछ प्रार्थना भी करता है। पूजा के इस अङ्ग का उल्लेख करना मैं वहां भूल गया हूं। उस भूल की मार्जना कर डालने की अनुमति, अब मैं अन्त में, आप से चाहता हूं। मुझ अपुण्यकर्म्मा ने अपनी आयु के कोई ६० वर्ष अधिकतर तिल, तण्डुल, लवण और इन्धनही की चिन्ता में बिता दिये। अपनी मातृभाषा हिन्दी की उन्नति के लिए जो जो काम करने का सङ्कल्प मैंने किया था वे सब मैं नहीं कर सका। यह जन्म तो मेरा अब गया। आप उदारता और दया-लुतापूर्वक मेरे लिए परमात्मा से अब यह प्रार्थना कर दीजिए कि जन्मान्तर ही में वह किसी तरह वे काम कर सकने का सामर्थ्य मुझे दे। वह मुझपर ऐसी कृपा करे कि मेरे हृदय में मातृ-भाषा का आदर सदा बना ही न रहे, वह बढ़ता भी रहे, और जिस भाषा में मेरी माँ ने मुझे अम्मा और बप्पा कहना सिखाया था उसी में हरि-हर-स्मरण करते हुए—

प्राणाः प्रयान्तु मम नाथ तव प्रसादात्

मार्च १९२३

७—विचार-विपर्य्यय ।

(१)

सम्पर्क के कारण पास-पड़ोस की भाषाओं का प्रभाव अन्य भाषाओं पर अवश्य ही पड़ता है। उन्नत भाषाओं के सम्पर्क से अनुन्नत भाषाओं की श्री-वृद्धि हो सकती है और होती भी है। यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। परन्तु अन्य भाषाओं का अनुकरण, आंख बन्द करके, न करना चाहिए। कथा, कहानी, आख्यायिका और यदा कदा उपन्यास के भी लिए बँगला-लेखकों ने "गल्प" शब्द का प्रयोग कर दिया। बस, हम लोगों ने उनकी नक़ल उतार ली। अब जिधर देखिए उधर ही गल्प ही गल्प की गर्जना सुनाई दे रही है। हम लोगों ने कोष, लुग़त या डिक्शनरी देखने की तकलीफ़ गवारा न की। यह किसीने किसीसे न पूछा कि यह गल्प-शब्द कूद कहां से पड़ा। पूछते या देखते तो मालूम हो जाता कि गप या गप्प और जल्प (जिससे जल्पना की सृष्टि हुई है) का पता तो कोषों में लगता है, पर गल्प का नहीं, और, गल्प को यदि हम जल्प या गप की साथी या भाई—भाई क्यों बहन—मानते हैं तो शब्दार्थ में कितना लाघव आ जाता है। पर देखने-भालने और पूछने-पाछने की ज़रूरत क्या? बँगला भाषा उन्नत है! हम उसकी भली-बुरी सभी बातों की नक़ल करके उसीके समकक्ष होना, किम्बहुना उससे भी बढ़ जाना, चाहते हैं!

(२)

धन्य रे अनुकरण ! तू बड़ा मायावी है । अपने मायाजाल में तूने बड़े-बड़ों तक को फँसा लिया है । अच्छा, बतला तो सही—संसार कितने हैं? मगर इस प्रश्न का उत्तर देते समय मदरसे में पढ़ाई गई नई और पुरानी दुनिया की बात भूल जाना। असल में हमारी दुनिया एक ही है; उसके एक अंश नया और दूसरे का पुराना होना उसकी केवल विशेषता है। अच्छा तो संसार, जगत्, दुनिया, वर्ल्ड (World) एक ही है न? इसमें तो मीन-मेष के लिए जगह नहीं? क्या कहा?—"नहीं" तो यह तेरी सरासर भूल है। तुझे मालूम नहीं, कुछ समय से सृष्टि की रचना का काम ब्रह्मा ने हिन्दीलेखकों के हाथों में सौंप दिया है। अतएव अपनी लेखनी के बल पर उन्होंने अनेक संसारों की सृष्टि कर डाली है—यथा हिन्दी-संसार, उर्दू-संसार, बँगला-संसार, मराठी-संसार आदि। इतने ही नहीं, उन्होंने और भी कितने ही संसार, बना डाले हैं—यथा साहित्य-संसार, सम्पादक-संसार पाठक-संसार आदि। संसार-सृष्टि की इस वृद्धि को अभी विराम नहीं। यह न समझना चाहिए कि यह जनन-क्रिया अब बन्द हो गई या बन्द होनेवाली है। वह बन्द न होगी; क्योंकि अभी पुस्तक-संसार, पृष्ठ-संसार, वाक्य-संसार और शब्द-संसार आदि की उत्पत्ति होना बाकी है। ये सभी संसार, और शायद कुछ और भी, अभी गर्भस्थ हैं। लेखकों की बहु-प्रसूता लेखनी-देवी, क्रम क्रम से, उनको भी प्रसव किये बिना न रहेगी। बात यह है कि ये

लोग साहित्य-प्रेमी नहीं, साहित्य-सेवी नहीं, साहित्य-शास्त्री भी नहीं। ठहरे ये साहित्यिक! क्या कहना है! कितनी श्रुति-सुखद, कितनी सरल और कितनी मनोरम शब्द-सृष्टि है! पर क्या परवा? समुन्नत बँगला भाषा के लेखकों ने इसे अपना जो लिया है। फिर भला हम क्यों न उनका अनुकरण करें? अँगरेज़ी भाषा के "Literary World" की बदौलत जब हमने अनेक संसारों की सृजना कर डाली, भद्र बँगला की बदौलत यदि हम अपनी भाषा में, मधु और मिश्री से भी अधिक मीठे एक नये शब्द "साहित्यिक" की सृष्टि कर डालें तो हर्ज ही क्या है?

२

पराया माल भला हो या बुरा; घर आ जायगा तो कभी न कभी काम ही देगा। कुछ दाम तो देने पड़ते ही नहीं, जो कबूल करते, ख़रीदते या चुराते वक्त अच्छे या बुरे की जांच करने बैठें। औरों का चाहे जो मत हो, अपने राम तो जांच-पड़ताल के मुतलक़ क़ायल नहीं। मुफ़्त में मिलता हो तो औरों के कूड़े-करकट से भी हम अपना घर पाट दें। कभी हमारे नाती-पोते खेती करेंगे तो वही कूड़ा-करकट खाद का काम देगा। इसीसे, भाई, हमने तो फ़ारसी भाषा के "मारे आस्तीन" को पकड़ कर अपनी कोठरी में क़ैद कर रक्खा है। अगर कोई हमसे पूछता है कि—रामजी, इसमें क्या है। तो हम कहते हैं—आस्तीन का सांप। फ़ारसी ही के क्यों, हम तो किसी भी भाषा के मुहावरे हज़म कर जाना रवा समझते हैं।

और अपने पेट में रखकर, ज़रूरत पड़ने पर, बिना ज़रा भी रद्दो-बदल किये, उन्हें हम फिर भी बाहर निकाल सकते हैं। कम से कम हमारे धर्म्मशास्त्र में तो इस हड़पाहड़पी की कहीं भी मुमानियत नहीं। देखिए, अँगरेज़ी भाषा में एक मुहावरा है—"He was caught red handed"—उसे आत्मसात् करके हिन्दी में हमने इस तरह उद्गीर्ण किया है—

"वह रँगे हाथों पकड़ लिया गया"

क्या इस तरह के नये नये और अनोखे मुहावरों की आमदनी से हमारी भाषा का कोष न बढ़ेगा? ज़रूर बढ़ेगा। उर्दू शाही ज़बान है। वह अँगरेज़ी गवर्नमेंट की कचहरियों के अहलकारों की दिलरुबा भी है। उसके तर्ज़ बयान, उसके क़ायदे और उसकी फ़साहत का क्या कहना है! इससे हमने तो उसपर भी धावा बोल दिया है। हिन्दी के आचार्य्य लिखते हैं—

"वह मारा गया"

छिः, कितना अशुद्ध वाक्य है! मगर इसकी अशुद्धता किसी हिन्दी-लेखक के ध्यान में न आई। आई तो ज़बां-दानी का दावा करनेवाले उर्दू ही के लेखकों के। यही कारण है जो वे इस वाक्य को सुधार कर इस तरह लिखने लगे हैं—

"उसको मारा गया"

इसी तर्ज़ पर और इसी क़ायदे के मुताबिक़, "उसको बुलाया गया" और "उसको धमकाया गया" आदि प्रयोग भी उन्होंने प्रचलित कर दिये हैं। उनकी राय है कि कर्म्मवाच्य

और कर्तृवाच्य तथा सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं में भेद रखना भाषा की रफ़्तार में रुकावट पैदा करना है। इसलिए इस भेद-भाव को दूर कर देना चाहिए। भाषा को उन्नत करने का यह तरीक़ा बहुत ही बढ़िया है। इसीसे हम लोग भी अब, कुछ समय से, इस तरह के प्रयोगों का अनुकरण हिन्दी में धड़ाधड़ करने लगे हैं। इसका फल भी बहुत ही मीठा और बहुत ही ज़ायक़ेदार हुआ है। इसी तरह के अनुकूल प्रयोगों के क़ुराकटाक्ष से अब हमारे यहां सुप्रभात और उषःकाल के बदले "नूर का तड़का" होने लगा है और "नक्षत्र का गोरा-ज़ा" भी बिखरने लगा है।

४

हिन्दी के पुराने लेखक एक बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। वे पहले भी समझते थे और अब भी समझते हैं कि "आज" कहने से दिन का बोध होता है। अतएव दिन के अर्थ में वे उसका प्रयोग बराबर करते चले जा रहे हैं। "आज-कल" का मुहावरा सदा ही उनकी ज़बान पर रहता है। वे "आज" के भी भीतर "दिन" को अन्तर्भुक्त समझते हैं और "कल" के भी भीतर। मगर उनकी यह भूल अब कहीं जाकर पकड़ी गई है। इसे पकड़ा है बी० ए०—एम० ए० पास, वकालत-पास, समालोचकों के सरताज, हिन्दी के अभिनव नामी लेखकों ने। उनका सिद्धान्त है कि "आज" और "कल" से घड़ी, घण्टे, पक्ष, मास, वर्ष, युग और कल्प आदि का अर्थ चाहे भले ही निकले; परन्तु दिन का अर्थ नहीं निकलता। उसका अर्थ

निकालने के लिए "आज" शब्द के आगे "दिन" शब्द और जोड़ देना चाहिए। उदाहरणार्थ—

"आज-दिन हिन्दी-साहित्य-संसार में हास्य-रस की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है"।

अभी तो "आज-दिन" ही को रायज करने की चेष्टा की गई है। आगे चल कर कभी शायद "कल-दिन" को भी दाद मिल जाय। हाँ, इस अवतरण में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। "आकृष्ट" कहने से बहुत लोग शायद यह समझते कि ध्यान आप ही आप भी किसी ओर खिंच सकता हैं। मगर इस तरह का अर्थ यदि कोई निकाले तो वह होगा सरासर ग़लत। कहीं ध्यान भी आप ही आप किसी तरफ़ जा सकता है? जाने के लिए किसी और के द्वारा उसके खींचे जाने की ज़रूरत होती है। अतएव "आकर्षित" हुआ शुद्ध प्रयोग और "आकृष्ट" है अपप्रयोग!

५

काल-वाचक शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में नव्य लेखकों ने एक और भी आविष्कार किया है। हिन्दी के अल्पज्ञ लेखक लिखते हैं—

जब मैं काशी जाऊँगा तब आपको भी बुलाऊँगा।

यहाँ, इस उदाहरण में, जब और तब ये दोनों ही शब्द काल-वाचक हैं। अतएव प्रयोक्ता जनों की राय में उनका यह वाक्य सर्वथा शुद्ध है। परन्तु हिन्दी के नवीन उन्नायकों की

-राय में काल-वाचक शब्दों के आधिक्य की बड़ी आवश्यकता है। उनकी संख्या कुछ और बढ़ जाय तो हिन्दी-भाषा की समृद्धि, अधिक नहीं, तो कम से कम मन दो मन तो अवश्यही वृद्धि को प्राप्त हो जाय। इसीसे यदि वे ऊपर के वाक्य को अपने ढंग पर लिखते हैं तो लिखते हैं—

जब मैं काशी जाऊँगा तो आपको भी बुलाऊँगा।

जब और तब का काम जो और तो से भी लेकर उन्हें भी वे काल-वाचक बना डालते हैं। क्योंकि अपने आविष्कार की कृपा से उन्हें अवगत होगया है कि जो और तो, ये दोनों ही क्रम से जब और तब के पर्य्याय-वाची, अतएव, स्थान-परिवर्तनीय हैं। कहिए, कितना महत्वपूर्ण आविष्कार है!

६

एक सम्माननीय समालोचक की सम्मति है कि किसी समय सरस्वती में जो समालोचनायें निकलती थीं वे कुछ विशेषता रखती थीं। यदि उनका यह "विशेषता" शब्द अपकृष्टता या हीनता का सूचक है तो हम उनसे सोलहो आने सहमत हैं। परन्तु यदि वह उत्कृष्टतासूचक है तो सहमत नहीं। क्योंकि सरस्वती में प्रकाशित समालोचनाओं में हमें कभी कोई उत्कृष्टता नहीं दिखाई दी। हाँ, अपकृष्टता के प्रमाण अवश्य ही अनेक मिल चुके हैं। उनमें से एक को हम, अभी, लगे हाथ ही, आपके सामने रक्खे देते हैं। कुछ लेखक-शिरोमणियों ने अथ से इतिपर्य्यन्त अन्य भाषाओं की पुस्तकों

का अनुवाद हिन्दी में कर डाला और टाइटिल पेज को अपने ही श्रीसम्पन्न नाम के सुन्दर वर्णों से समलङ्कृत कर दिया, मूल पुस्तक के लेखक के नाम को अशुभङ्कर समझ कर उसका पूरा पूरा "बायकाट" कर डाला। ये सभी पुस्तकें सरस्वती में समालोचना के लिए आईं, तो समालोचक ने जान बूझकर पाठकों को धोखा दिया। उसने यह तो लिख दिया कि वे अमुक अमुक भाषाओं को अमुक अमुक पुस्तकों के अनुवाद हैं; परन्तु यह न बताया कि अनुवादकों ने उन मूल पुस्तकों के कर्ताओं के नाम का बहिष्कार कर दिया है। इससे बड़ी हानि हुई। पाठक तो धोखे में रहे और चौर-चाणक्य अनुवादक मूँछों पर ताव देते हुए हिन्दी भाषा के उद्धारक बन बैठे। उनमें से एक आध तो "साहित्य-संसार" के सम्राट् तक बन गये और अवशिष्ट अनुवादक विद्वान् (हाँ हाँ विद्वान् ही नहीं, विद्वच्छिरोमणि) बने हुए हिन्दी के रिक्त कोष को अपने ग्रन्थ-रत्नों से लबालब भरते चले जा रहे हैं। इन समालोचनाओं के लेखक की भीरुता को—नहीं नहीं धूर्तता को—तो देखिए! उसने जान बूझ कर सर्व-साधारण के मतलब की सबसे बड़ी बात छिपा डाली। हमें तो ऐसी समालोचनाओं से सम्पूर्ण घृणा है। लीपापोती हमें ज़रा भी पसन्द नहीं। हमें तो खरी समालोचनायें ही पसन्द हैं—ऐसी समालोचनायें जैसी कि इस समय कलकत्ते के एक साप्ताहिक पत्र में निकल रही हैं। वे समालोचनायें ही क्या, जिनको पढ़कर समालोचित ग्रन्थ के लेखक का प्रेरणा से गोरखों की पलटनें, गढ़वालियों की

बटालियनें और सिक्खों की सेनायें समालोचक पर सहसा टूट न पड़ें। विशेषतापूर्ण उत्कृष्ट समालोचनायें वही कही जा सकती हैं, सरस्वती में प्रकाशित समालोचनायें नहीं। उन्हें तो सर्वथा अपकृष्ट और विशेषता-हीन समझना चाहिए।

अगस्त १९२५

१८—आज कल के छायावादी कवि और कविता।

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्! भर्तृहरि।

श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गणना महाकवियों में है। वे विश्वविश्रुत कवि हैं। उनके कविता-ग्रन्थ विदेशों में भी बड़े चाव से पढ़े जाते हैं। कविता-ग्रन्थों ही का नहीं, उनके अन्य ग्रन्थों का भी बड़ा आदर है; उनकी कृतियों के अनुवाद अनेक भाषाओं में हो गये हैं और होते जा रहे हैं। उन्हें साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किये कोई ५० वर्ष हो गये। बहुत कुछ ग्रन्थ-रचना कर चुकने पर उन्होंने एक विशेष प्रकार की कविता की सृष्टि की है। यह सृष्टि उनके अनवरत अभ्यास, अध्ययन और मनोऽभिनिवेश का फल है। अँगरेज़ी में एक शब्द है—(Mystic या Mystical) पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र ने अपने त्रैभाषिक कोश में, उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ, गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। कुछ लोगों की राय में रवीन्द्रनाथ की यह नये ढङ्ग की कविता इसी 'मिस्टिक' शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थ-बोधक कहता है, और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिए।

कुछ शब्दों में विशेष प्रकार की शक्ति होती है। कभी कभी

एक ही शब्द या वाक्य से कई अर्थ निकलते हैं। ऐसे अर्थों की वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य संज्ञा है। वाच्य से तो साधारण अर्थ का ग्रहण होता है; लक्ष्य और व्यङ्ग्य से विशेष अर्थों का। पर रहस्यमयी कविता को आप इन अर्थों से परे समझिए। एक अलङ्कार का नाम है—सहोक्ति। जहाँ वर्ण्य विषय के सिवा किसी अन्य विषय का भी बोध साथ ही साथ होता जाता है वहाँ यह अलङ्कार माना जाता है। महाकवि ठाकुर की कविता इस अलङ्कार के भी भीतर नहीं आती। संस्कृत-भाषा में कितने ही काव्य ऐसे हैं जो आद्योपान्त द्व्यर्थक हैं। वर्णन हो रहा है हरि का, पर साथ ही अर्थ हर का भी निकलता जाता है। काव्य लिखा गया है राघव के चरित-चित्रण-सम्बन्ध में; पर करता चला जा रहा है पाण्डवों के भी चरित का चित्रण। इस तरह के भी काव्यों की कक्षा के भीतर कविवर ठाकुर की कविता नहीं आती। उस तरह की अटपटी कविता आती किसके भीतर है यह बात कवियों का यह किङ्कर नहीं बता सकता। बताने का सामर्थ्य इसमें नहीं। जिसे इस कविता का रहस्य जानना हो वह बंगला पढ़े, कुछ समय तक उस भाषा में लिखे गये काव्यों का अध्ययन करे, तब यदि वह इसकी गुप्त, गूढ़ या छायामयी कविता पर कुछ कह सके तो कहे। रहीम पर कुछ कहना हो तो राम का चरित गान करो; अशोक पर कुछ लिखना हो तो सिकन्दर के जीवन-चरित की चर्चा करो—यह अघटनीय घटना पर लिखना साधारण कवियों का काम नहीं। पर

रवि बाबू की गोपनशील कविता ने हिन्दी के कुछ युवक कवियों के दिमाग़ में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असम्भव को सम्भव कर दिखाने की चेष्टा में अपने श्रम, समय और शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय कर रहे हैं। जो काम रवीन्द्रनाथ ने चालीस पचास वर्ष के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है उसे वे स्कूल छोड़ते ही, कमर कसकर कर दिखाने के लिए उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कालेजों में रहते ही रहते छायावादी कवि बनने लग गये हैं। यदि ये लोग रवीन्द्रनाथ हो की तरह सिद्ध कवि हो जायं और उन्हींकी जैसी गुह्यातिगुह्य कवित्व रचना करने में भी समर्थ हो जायं तो कहना पड़ेगा कि किसी दिन—

विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।

कविता किस उद्देश से की जाती है? ख्याति के लिए, यश प्राप्ति के लिए, धनार्जन के लिए या दूसरों के मनोरञ्जन के लिए। इन के सिवा तुलसीदास की तरह "स्वान्तःसुखाय" भी कविता की रचना होती है। परमेश्वर का सम्बोधन करके कोई कोई कवि आत्म-निवेदन भी, कविता-द्वारा ही, करते हैं। पर ये बातें केवल भक्त कवियों ही के विषय में चरितार्थ होती हैं। अस्मदादि लौकिक जन तो और ही मतलब से कविता करते या लिखते हैं और उनका वह मतलब ख्याति, लाभ और मनोरञ्जन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। इन सभी उद्देशों की सिद्धि तभी हो सकती है जब कवि की कविता का आशय दूसरों की समझ में झट आ जाय। क्योंकि जो

बात समझ ही में न आवेगी उसको दाद देगा कौन? न उससे किसीका मनोरञ्जन ही होगा; न इसे सुनकर सुननेवाला कवि का अभिनन्दन ही कर सकेगा और जब उसके हृदय पर कविता का कुछ असर ही न होगा तब वह कवि को कुछ देगा क्यों? अब विचार करने की बात है कि वर्तमान छायावादी कवियों की कविता में श्रोताओं को मुग्ध करने योग्य गुण हैं या नहीं। इस पर, आगे चलकर, हम सप्रमाण विचार करेंगे।

यहां पर यह कहा जा सकता है कि छायावादी कवि दूसरों को प्रसन्न करने के लिए कविता-रचना नहीं करते। वे अपनी ही मनस्तुष्टि के लिए कविता लिखते हैं। इस पर प्रश्न हो सकता है कि फिर वे दूसरों से अपनी कविता की समालोचना के अभिलाषी क्यों होते हैं? मान लीजिए कि ये लोग बड़े अच्छे कवि हैं; परन्तु यदि ये अपनी कविता की रचना अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए लिखते हैं तो उससे संसार को क्या लाभ? अपनी चीज़ किसे अच्छी नहीं लगती? तुलसीदास ने कहा ही है—"निज कवित्त केहि लाग न नीका।" ऐसे कवियों के विषय में कविवर रुद्रभट्ट की एक उक्ति बड़ी ही मनोहारिणी है—

सत्यं सन्ति गृहे गृहे सुकवयो येषां वचश्चातुरी
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते जातैर्गुणैर्गौरवम्।
दुष्प्राप्यः स तु कोऽपि कोविदपतिर्यद्वाग्रसग्राहिणां
पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा॥

ऐसे कवि तो घर घर में भरे पड़े हैं जिनकी वचन-चातुरी अपने ही आंगन में मनोहारिणी बातें करनेवाली कुलकन्या के समान, गुणों के प्रशंसक स्वजनों ही से आदर पाती है। परन्तु जिनकी सरस वाणी (दूर दूर तक के) रसग्राही कविता-प्रेमियों का चित्त, कलाकुशल वारवनिता के सदृश, चुरा लेने में समर्थ होती है वे कवीश्वर मुश्किल से कहीं पाये जाते हैं।

पुरान में

एक बात और भी है। यदि ये लोग अपने ही लिए कविता करते हैं तो अपनी कविताओं का प्रकाशन क्यों करते हैं? प्रकाशन भी कैसा? मनोहर टाइप में, बहुमूल्य कागज़ पर। अनोखे अनोखे चित्रों से सुसज्जित। टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पङ्क्तियों में, रङ्ग-बिरङ्गे बेलबूटों से अलङ्कृत। यह इतना ठाठ-बाट—यह इतना आडम्बर—दूसरों ही को रिझाने के लिए हो सकता है, अपनी आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं। परन्तु सत्कवि के लिये इस आयोजन की आवश्यकता नहीं। जिन कवियों को नामशेष हुए हज़ारों वर्ष बीत चुके उनको यह कुछ भी नहीं करना पड़ा। करना भी चाहते तो वे न कर सकते। क्योंकि उस समय ये साधन ही सुलभ न थे। किसी ने अपना काव्य ताड़पत्र पर लिखा, किसीने भोजपत्र पर। किसीने भद्दे और खुरदरे कागज़ पर। पर जनता ने प्रकाशन के आडम्बरों से रहित इन सत्कवियों के काव्यों को यहाँ तक अपनाया कि समय उनको नष्ट न कर सका, धर्मान्ध आतता-यियों से उनका कुछ न बिगड़ सका, जलाप्लावन और भूकम्प

आदि का ज़ोर भी उनका नाश न कर सका। सहृदय सज्जनों और कविता के पारखियों ने उन्हें आत्मसात् करके उन्हें अपने कंठ और अपने हृदय में स्थान दे कर अमर कर दिया। सड़े गले काग़ज़ और फटे पुराने ताड़पत्र के देखकर काव्यरसिकों ने उन्हें फेंका नहीं। उन पुरातन पत्रों में कुछ ऐसा मोहनमन्त्र था—उनमें कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति थी—जिसने उन्हें मोह लिया वही शक्ति—वही मन्त्रौषधि—उन काव्यों के जीवित रहने का कारण हुई। सो, छायावादी कवि अपनी कृति के चाहे जितने रम्य रूप में प्रकाशित करे-उसके उपकरणों के वह चाहे जितने मनोमोहक बनावे—यदि उसकी कविता में वह शक्ति नहीं जो सत्कवियों की कविता में होती है तो उसके आडम्बर-जाल में सरसहृदय श्रोता-शुक कदापि फँसने के नहीं।

प्राचीन कवियों को जाने दीजिए। आधुनिक कवियों में भी ऐसे कई सत्कवि इस समय विद्यमान हैं जिनकी कविता-पुस्तकों के, थोड़े ही समय में, अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उनकी कवितायें मदरसों, स्कूलों और कालेजों के छात्रों तक के कंठहार हो रही हैं। इन कवियों ने अपनी कवितायें सजाकर प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं की और किसी किसीने की भी है तो बहुत ही थोड़ी। फिर भी इनकी कविता का जो इतना आदर हुआ है उसका एक-मात्र कारण है उसकी सरसता, उसका प्रसाद-गुण, उसकी वर्णाभरणता और उसकी चमत्कारिणी रचना। अतएव सत्कवियों के लिए आडम्बर की ज़रूरत नहीं—

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। गूढ़ार्थविहारी या छायावादी कवियों की कहीं यह धारणा तो नहीं कि हमारी कविता में कवित्व गुण तो हैं ही नहीं, लावो ऊपरी आडम्बरों ही से पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करें। परन्तु यह सन्देह निराधार सा जान पड़ता है; क्योंकि इन महाशयों में से कविता-कान्तार के किसी किसी कण्ठीरव ने बड़े गर्जन-तर्जन के साथ अन्य कवियों को लथेड़ा है। इन कठोर-कर्मा कवियों की दहाड़ें सुनकर ही शायद अन्य कवि भयभीत होकर अपने अपने गृह-गह्वरों में जा छिपे हैं। किसीसे अब तक कुछ करते धरते नहीं बना। इन महाकवियों के महाराजों की समझ में जो कवि इनकी जैसी कविता के प्रशंसक, पोषक या प्रणेता नहीं वे कवि नहीं, किन्तु कवित्वहन्ता हैं। इस "कवित्वहन्ता" पद के प्रयोग का कर्त्ता आप कवियों के इस किङ्कर ही को समझिए। यह शब्द एक और ऐसे ही शब्द के बदले यहां लिखा गया है जो है तो समानार्थक, पर सुनने में निकृष्ट-निर्दयता सूचक है। वह शब्द, इस विषय में, एक ऐसे साहित्य-शास्त्री-द्वारा प्रयोग में लाया गया है जो संस्कृत-भाषा में रचे गये अनेक महाकाव्यों के रसार्णव में आशैशव गोता लगाते चले आरहे हैं और जिनका निवास इस समय लखनऊ के अमीनाबाद मुहल्ले में है। अतएव इस शब्दात्मक कठोर कशाघात के श्रेय के अधिकारी वही हैं।

सत्कवि के लिए आडम्बर की मुतलक़ ही ज़रूरत नहीं। यदि उसमें कुछ सार है तो पाठक और श्रोता स्वयं ही उसके

पास दौड़े आवेंगे। आम की मञ्जरी क्या कभी भौंरों को बुलाने जाती है?

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।

बात यह।

आज कल के कुछ कवि काव्य-कर्म में कुशलता-प्राप्ति की चेष्टा तो कम करते हैं, आडम्बर-रचना की बहुत। शुद्ध लिखना तक सीखने के पहले ही वे कवि बन जाते हैं और अनोखे अनोखे उपनामों की लाङ्गूल लगाकर अनाप-शनाप लिखने लगते हैं। वे कमल, विमल, यमल और अरविन्द, मिलिन्द, मकरन्द आदि उपनाम धारण करके अखबारों और सामयिक पुस्तकों का कलेवर भरना आरम्भ कर देते हैं। अपनी कविताओं ही में नहीं, यों भी जहां कहीं वे अपना नाम लिखते हैं, काव्योपनाम देना नहीं भूलते। यह रोग उनको उर्दू के शायरों की बदौलत लग गया है। पर इससे कुछ भी होता जाता नहीं। शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन और कालिदास, भारवि, भवभूति आदि कवि इस रोग से बरी थे। फिर भी उनके काव्यों का देश-देशान्तरों तक में आदर है। उपनाम-धारण की असारता उर्दू ही के प्रसिद्ध कवि चकबस्त ने खूब समझी थी। उनका कथन है—

> ज़िक्र क्यों आयेगा बज़मे शुअरा में अपना,
> मैं तख़ल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं।

अनूठे अनूठे तख़ल्लुस (उपमा) लगाने से किसीकी प्रसिद्धि नहीं होती। चकबस्तजी का क़ौल है—

किस वास्ते जुस्तजू करूं शुहरत की
इक दिन खुद ढूँढ़ लेगी शुहरत मुझ को

गुण होने ही से प्रसिद्धि प्राप्त होती है। पकड़ लाने की चेष्टा से वह नहीं मिलती।

कवित्व-शक्ति किसी विरले ही भाग्यवान् को प्राप्त होती है। यह शक्ति बड़ी दुर्लभ है। कवियशोलिप्सुओं के लिए कुछ साधनों के आश्रय की आवश्यकता होती है। ये साधन अनेक हैं। उनमें से मुख्य तीन हैं—प्रतिभा (अर्थात् कवित्व-बीज) अध्ययन और अभ्यास। इनमें से किसी एक और कभी कभी किसी दो की कमी होने से भी मनुष्य कविता कर सकता है। परन्तु प्रतिभा का होना परमावश्यक है। बिना उसके कोई मनुष्य अच्छा कवि नहीं हो सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक—कविकण्ठाभरण—में, थोड़े ही में, इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। वर्त्तमान कविमन्यों को चाहिए कि वे उसे पढ़ें, स्वयं न पढ़ सकें तो किसी संस्कृतज्ञ से उसे पढ़वा कर उसका आशय समझ लें। ऐसा करने से, आशा है, उन्हें अपनी त्रुटियों और कमज़ोरियों का पता लग जायगा। कवित्वशक्ति होने पर भी पूर्ववर्ती कवियों और महाकवियों की कृतियों का परिशीलन करना चाहिए और कविता लिखने का अभ्यास भी कुछ समय तक करना चाहिए। छन्दःप्रभाकर में दिये गये छन्दोरचना के नियम जान कर तत्काल ही कवि न बन बैठना और समाचार-पत्रों के स्तम्भों तक दौड़ न लगाना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कवि बनने की इच्छा रखने

वालों के तीन दरजे होते हैं—अल्पप्रयत्नसाध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य। इनमें से पहले दोनों के लिए भी बहुत कुछ अध्ययन,श्रवण, विचार और अभ्यास की ज़रूरत होती है। यह नहीं कि तेरह-ग्यारह मात्राओं के दोहे का लक्षण जान लेते ही कलम और ले दौड़े। अन्तिम तीसरे दरजे के मनुष्यों के लिए क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

> यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव
> कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
> तर्केण दग्धोऽनिलधूमिना वा-
> प्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः ॥२२॥
>
> न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्या-
> च्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
> न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि
> सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः ॥२३॥

जिसका हृदय स्वभाव ही से पत्थर के समान है, जो जन्म-रोगी है, व्याकरण "घोखते" "घोखते" जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-पट और अग्नि-धूम आदि से सम्बन्ध रखनेवाली फक्किकाएं रटते रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध सी हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास करावें वह कभी कवि नहीं हो सकता। सिखाने से भी क्या गधा भैरवी अलाप

सकता है ? अथवा दिखाने से भी क्या अन्धा मनुष्य सूर्य-बिम्ब देख सकता है ?

अब आप ही कहिए कि जिन्होंने कवित्व-प्राप्ति विषयक कुछ भी शिक्षा नहीं पाई, जिन्होंने उस सम्बन्ध में वर्ष दो वर्ष भी अभ्यास नहीं किया और जिन्होंने इस बात का भी पता नहीं लगाया कि उनमें कवित्व-शक्ति का बीज है या नहीं वे यदि बलात् कवि बन बैठें और दुनियां पर अपना आतङ्क जमाने के लिए कविता-विषयक बड़े बड़े लेक्चर झाड़ें तो उनके कवित्व की प्रशंसा की जानी चाहिए या उनके साहस, उनके धाष्ट्र्य और उनके अविवेक की। उस दिन सत्रह अठारह वर्ष का एक लड़का इस किङ्कर के पास आया। उसकी बगल में उसकी लिखी हुई कोई डेढ़ दर्जन "कविताओं" के कागज़ों का एक बण्डल था। वे सब कवितायें वह कुछ सभाओं में सुना चुका था। उनकी कापियां वह कुछ अखबारों को भी भेज चुका था। उसे शब्द-शुद्धि तक का ज्ञान न था। उसकी तुक-बन्दियों में एक नहीं अनेक छन्दोभङ्ग तक थे। तथापि वह अपने मन से कवि बन बैठा था। बहुत कुछ कहने सुनने से उसने लघुकौमुदी पढ़ डालने का वचन दिया। आज कल ऐसे ही कवियों की धूम है। समाचार-पत्रों और सामयिक पत्रिकाओं के सम्पादकों को भी कई कारणों से निरुपाय हो कर, ऐसों ही की कात-कूत को ग्रहण करना पड़ता है। इसी से कविता के एक विशेषज्ञ ने अपने हार्दिक उद्गार, अपने एक पत्र में, इस प्रकार निकाले हैं—

"आज-कल जो हिन्दी-कवितायें निकलती हैं उन्हें मैं 'अस्पृश्य' समझ कर दूर ही से छोड़ देता हूँ। पहले कुछ पढ़ीं; पर चित्त में दुःख हुआ। तब से उन्हें देखना ही बन्द कर दिया। आज-कल के कवि-पुङ्गवों और उपन्यास-लेखकों से तो जी ऊब उठा है। क्या कहें और किससे कहें? सबसे बड़ी मुश्किल तो यह है कि यदि कुछ समझाया जाय तो ये बद-नसीब समझ भी नहीं सकते" (यहां पर लेखक ने अपने पत्र में "बदनसीब" के पर्यायवाची एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जो बहुत कठोर है। अतएव वह नहीं लिखा गया)।

इसपर प्रार्थना इतनी ही है कि आज-कल के सभी कवि ऐसे नहीं। उनमें से दो चार सत्कवि भी हैं जिनकी रचना पढ़ कर कोई भी सरसहृदय कविता-प्रेमी आनन्दमग्न हुए बिना नहीं रह सकता। इस बात के दो एक प्रमाण, आगे चल कर, सोदाहरण, दिये जायेंगे।

अच्छा, कविता कहते किसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर बहुत टेढ़ा है। इस लिए कि इस विषय में, आचार्यों और विशेषज्ञों में, मतभेद है। कविता कुछ सार्थक शब्दों का समुदाय है अथवा यह कहना चाहिए कि वह ऐसे ही शब्द-समुदाय के भीतर रहनेवाली एक वस्तु-विशेष है। कोई तो कहता है कि ये शब्द या वाक्य यदि सरस हैं तभी कविता की कक्षा के भीतर आ सकते हैं। कोई उनके अर्थ को रमणीयता-सापेक्ष बतलाता है। कोई उनमें उनके भाव के अनूठेपन की पख लगाता है। कोई इन विशेषताओं के साथ शब्द-शुद्धि, छन्दः-

शास्त्र के नियमों के परिपालन और अलङ्कार आदि की योजना को भी आवश्यक बताता है। पर आप इन पचड़ों और झगड़ों को जाने दीजिए। आप सिर्फ यह देखिए कि कोई पत्र लिखता बोलता, या व्याख्यान देता है तो दूसरे पर अपने मन का भाव प्रकट करने ही के लिए वह ऐसा करता है या नहीं। यदि वह इसलिए यह कुछ नहीं करता तो न उसे लिखने की ज़रूरत और न बोलने की। उसे मूक बन कर या मौन धारण करके ही रहना चाहिए। सो बोलने या लिखने का एकमात्र उद्देश्य दूसरों को अपने मन की बात बताने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। जो अंगरेज़ी या बंगला-भाषा नहीं जानता उसे इन भाषाओं की बढ़िया से भी बढ़िया कविता या कहानी सुनाना बेकार है। जो बात या जो भाषा मनुष्य सबसे अधिक सरलता से समझ सकता है उसी बात या उसी भाषा की पुस्तक पढ़ने या सुनने से उसके हृदय पर कुछ असर पड़ सकता है। क्योंकि जब तक दूसरे का व्यक्त किया हुआ मतलब समझ में न आवेगा तब तक मनुष्य के हृदय में कोई भी विकार जागृत न होगा। पशुओं के सामने आप उत्तमोत्तम कविता का पाठ कीजिए। उनपर कुछ भी असर न होगा।

अतएव गद्य हो या पद्य, उसमें जो कुछ कहा गया हो वह श्रोता या पाठक की समझ में आना चाहिए। वह जितना ही अधिक और जितना ही जल्द समझ में आवेगा, गद्य या पद्य के लेखक का श्रम उतना ही

अधिक और उतना ही शीघ्र सफल हो जायगा। जिस लेख या कविता में यह गुण होता है उसकी प्रासादिक संज्ञा है। कविता में प्रसाद गुण यदि नहीं तो कवि की उद्देश्यसिद्धि अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। जो कुछ कहना हो उसे इस तरह कहना चाहिए कि वह पढ़ने या सुननेवालों की समझ में तुरन्त ही आजाय। इसे तो आप कविता का पहला गुण समझिए। दूसरा गुण कविता में यह होना चाहिए कि कवि के कहने के ढङ्ग में कुछ निरालापन या अनूठापन हो—वह अपने मन के भाव को इस तरह प्रकट करे जिससे पढ़ने या सुननेवाले के हृदय में कोई न कोई विकार जागृत, उत्तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी। यह भी न हो तो उसकी कविता सुन कर श्रोता का चित्त तो कुछ चमत्कृत हो। यदि कवि में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह दूसरों के हृदयों को प्रभावान्वित कर सके तो कम से कम उसे अपनी बात ऐसे शब्दों में तो ज़रूर ही कहनी चाहिए जो कान को अच्छी लगे। कथन में लालित्य होना चाहिए; उसमें कुछ माधुर्य्य होना चाहिए। कविता के शास्त्रीय लक्षणों की परवा न करके जो कवि कम से कम इन तीनों गुणों में से, सबके न सही, एक ही दो के साधन में सफल होने की चेष्टा करेंगे उन्हींकी कविता न्यूनाधिक अंश में, कविता कही जा सकेगी।

"आबेहयात" के लेखक प्रोफेसर आज़ाद ने संस्कृत भाषा में लिखे गये साहित्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन न किया था। पर थे वे प्रतिभावान्, सहृदय और काव्यप्रेमी। इसीसे उन्होंने छोटी छोटी दो ही सतरों में सत्कविता का कैसा अच्छा निरूपण किया है--निरूपण क्या किया है, परमात्मा से उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। वे कहते हैं—

> है इल्तिजा यही कि अगर तू करम करे।
> वह बात दे ज़बां में के दिल पर असर करे॥

देखिए, उन्हें माल, मुल्क, प्रभुता, महत्ता किसीको भी इच्छा नहीं। इच्छा सिर्फ यह है कि जो कुछ वे कहें उसका असर सुननेवाले के दिल पर पड़े। सत्कविता का सबसे बड़ा गुण—सब से प्रधान लक्षण—यही है।

सत्कवियों की वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। वही श्रोताओं और पाठकों को अभिलषित दिशा की ओर खींचती और उद्दिष्ट विकारों को उन्मार्जित करती है। असर पैदा करना—प्रभाव जमाना—उसीका काम है। सत्कवि अपनी कविता के प्रभाव से रोते हुओं को हंसा सकता है, हंसते हुओं को रुला सकता है, भीरुओं को युद्ध-वीर बना सकता है, वीरों को भयाकुल और त्रस्त कर सकता है, पाषाण-हृदयों के भी मानस में दया का संचार कर सकता है। वह सांसारिक घटनाओं का इतना सजीव चित्र खड़ा कर देता है कि देखने वाले चेष्टा करने पर भी उसके ऊपर से आंख नहीं उठा सकते।

जब वह श्रोताओं को किसी विशेष विकार में मग्न करना अथवा किसी विशेष दशा में लाना चाहता है तब वह कुछ ऐसे भावों का उन्मेष करता है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं और विवश से होकर कवि के प्रयत्न को बिना विलम्ब सफल करने लगते हैं। यदि वह उनसे कुछ कराना चाहता है तो करा कर ही छोड़ता है। सत्कवि के लिए ये बातें सर्वथा सम्भव हैं।

यदि किसी कवि की कविता में केवल शुष्क विचारों का विजृम्भण है; यदि उसकी भाषा निरी नीरस है; यदि उसमें कुछ भी चमत्कार नहीं तो ऊपर जिन घटनाओं की कल्पना की गई उनका होना कदापि सम्भव नहीं। और यदि उसकी क्लिष्ट कल्पनाओं और शुष्क शब्दाडम्बर के भीतर छिपे हुए उसके मनोभाव श्रोताओं की समझ ही में न आवे तो कोढ़ में खाज ही उत्पन्न हो गई समझिए। ऐसी कविता से प्रभावान्वित होना तो दूर उसे पढ़ने तक का भी कष्ट शायद ही कोई उठाने का साहस कर सके। बात यदि समझ ही में न आई तो पढ़ने या सुननेवाले पर असर पड़ कैसे सकता है? जो कवि शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार-प्रकार की कांट छांट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमें रचना-चातुर्य्य तक नहीं उसकी कवियशो-लिप्सा विडम्बना-मात्र है। किसीने लिखा है—

तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां

सुवर्णसङ्घेन च ये न पूर्णाः ।

ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पा

यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ?

जिनके पास न तो अर्थरूपी रत्न ही हैं और न सुवर्ण-रूपी सुवर्णसमूह ही है वे कवियों की रीति-मात्र का आश्रय लेकर—कांसे और पीतल के दो-चार टुकड़े रखनेवाले किसी दरिद्र-कल्प मनुष्य के सदृश—भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते हैं ? "कवि-वर, कविचक्रवर्ती, कविरत्न, आशुकवि और कवि-सम्राट् की सनद अपने नाम के आगे (और कभी कभी पीछे) लगा कर सर्व-साधारण की आंखों में धूल डालना जितना सरल है उतना शास्त्र-सम्मत और सत्समालोचकों के सिद्धान्त के अनुसार कविवर तो क्या केवल कवि तक बनना कठिन है। कवित्व का महत्त्व काव्य-मर्म्मज्ञ ही समझता है।" यह फ़रवरी १९२७ की सरस्वती में प्रकाशित एक शास्त्री महाशय की सम्मति है, जो सर्वथा ठीक है।

आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्य-रचना अच्छी होती है जो देश-प्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या "चलो वीर पटुआखाली" की तरह की पङ्क्तियों की सृष्टि करते हैं। उनमें कविता के और गुण भलेही न हों, पर उनका मतलब तो समझ में आजाता है। पर छायावादियों की रचना तो कभी

कभी समझ में भी नहीं आती। ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं। कोई छःपदे, कोई ग्यारहपदे! कोई तेरहपदे! किसीकी चार सतरें गज़ गज़ भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अङ्गुल की! फिर ये लोग तुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवा करनेवाले! इनका मूलमन्त्र है—हमचुनां दीगरे नेस्त। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।

कविता-नामधारिणी गूढार्थबोधक रचना करके ख्याति के अभिलाषी लेखकों को सचेत करने के लिए श्रीयुत कन्याल शिवन्न शास्त्री नाम के एक आन्ध्रदेशीय सज्जन ने, गत फ़रवरी की सरस्वती में, अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं।

'आज-कल की कविता का तो कोई निश्चित रूप (ही) नहीं। × × × × विशेष करके आज-कल युवक कवि 'मिस्टिक पोयट्री' (रहस्यमय कविता) लिखते हैं। ये लोग अपने अनुभव के किसी पहलू को लेकर इतनी अस्पष्ट कविता लिखते हैं कि स्वयं लेखक के सिवा दूसरेकी समझ में वह नहीं आती। इनमें कई तो ऐसे भी लेखक हैं जो दूसरोंको अपनी कविता का भाव

भी नहीं समझा सकते। ऐसी कविताओं से क्या लाभ है, मैं नहीं जानता"।

इससे अधिक आश्चर्य्य की बात भला और क्या हो सकती है कि स्वयं कवि भी अपनी कविता का मतलब दूसरोंको न समझा सके। यह शिकायत शिवम् शास्त्री ही की नहीं, और भी अनेक कविता-प्रेमियों की है। ऊपर, एक जगह, लखनऊ के एक साहित्य-शास्त्री के उलाहने का उल्लेख हो ही चुका है। अपने प्रान्त के नामी साहित्यसेवी, लेखक और सम्पादक राय-साहब बाबू श्यामसुन्दरदासजी क्या कहते हैं, सो भी सुन लीजिए। उस दिन इलाहाबाद के कायस्थ-पाठशाला-कालेज के बोर्डिंग् हौस में, हिन्दी-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में, उन्होंने एक अभिभाषण किया था। उसके सिलसिले में उन्होंने कहा—

"छायावाद और समस्यापूर्ति से हिन्दी-कविता को बहुत हानि पहुंच रही है। छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है और ये जहां कुछ गुनगुनाने लगे कि चट दो-चार पद जोड़कर कवि का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओं का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है। कविता लिखने के अनन्तर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझाने में असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिन्दी में हो रहा है। उस कविश्रेष्ठ की विद्या-बुद्धि की समता करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ ऐसी बातें कह

जाना जिनका कोई अर्थ ही न समझ सके, ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगे हैं।"

लीजिए, उसी पूर्वनिर्दिष्ट दोष को बाबू साहब भी दुहरा रहे हैं। व्यास ने महाभारत लिखा तो हम भी महाभारत लिखेंगे। होमर ने इलियड लिखा तो हम भी वैसाही काव्य लिख डालेंगे। बात यह ? क्यों न ? यह इन कवियों के कवित्व की पराकाष्ठा तो नहीं, अविवेक की पराकाष्ठा अवश्य है।

कल्पना कीजिए कि कविचक्रचूड़ामणि चन्द्रचूड़ चतुर्वेदी छायात्मक कविता के उपासक हैं। आपको विश्वविधाता के रचना-चातुर्य्य का वर्णन करना है। यह काम वे प्रत्यक्ष रीति पर करना चाहते नहीं। इसलिए उन्होंने किसी माली या कुम्भकार का आश्रय लिया और लगे उसके कार्य्य-कलाप की खूबियों का चित्र उतारने। अब उस माली या कुम्हार की कारीगरी का वर्णन सुन कर प्रतिपद, प्रतिवाक्य, प्रतिपद्य में ब्रह्मदेव की कारीगरी का यदि भान न हुआ तो कवीश्वरजी अपनी कृति में कृत-कार्य कैसे समझे जा सकेंगे। इस तरह का परोक्ष वर्णन क्या अल्पायास-साध्य होता है ? क्या यह काम किसी ऐसे-वैसे कवि के बूते का है ? रवीन्द्रनाथ ने जो काम कर दिखाया है वह क्या सभी ऐरे-गैरे कर दिखा सकते हैं ? जब ये लोग अपने लेख का भाव कभी कभी स्वयं ही नहीं समझा सकते तब दूसरे उसे कैसे समझ सकेंगे ? अफ़सोस तो इस बात का है कि

ये इतनी मोटी मोटी बातें भी इनके ध्यान में नहीं आतीं। कविता का सबसे बड़ा गुण है उसकी प्रासादिकता। वही जब नहीं तब कविता सुन कर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उनपर होगा क्या खाक़ !

यदि कोई यह कहे कि ये नवयुवक कवि परमात्मा के रहस्यों का परोक्ष पर प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करके अपनी कविता में अपने उन अनुभवों को प्रकट करते हैं तो ऐसा कहना या समझना उस परमात्मा की विडम्बना करना है।

लेख बढ़ रहा है। इससे अब इसका संवरण करना पड़ेगा। यहां तक जो कुछ लिखा गया उसकी पूर्ति के लिए अच्छी और बुरी कविता के अब केवल दो चार उदाहरण देना शेष है। ये उदाहरण हम उन्हीं सामयिक तथा अन्य पुस्तकों से देंगे जो हमारे सामने हैं और जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुई हैं। पाठक यह न समझें कि ये उदाहरण ढूंढ़ ढूंढ़ कर परिश्रमपूर्वक चुने गये हैं।

एक कविता का नाम है—"तब फिर ?" ज़रा इस नाम की विलक्षणता पर भी ध्यान दीजिएगा। कविता नीचे देखिए—

तब फिर कैसा होगा मात !

धीरे धीरे पत्रहीन जब हो जावेगा यह द्विज-दल ?
डाल डाल में, शाल शाल में उड़ न सकेगा उच्छृङ्खल।
म्लान पुष्प सा झर जावेगा जब यह भी निर्बल, निश्चल।
नहीं गा सकेगा मृदु-स्वर से प्रथम-रश्मि का स्वागत-कल ?

यह तो करता है उत्पात !
अति अनन्त नभ की नीरवता यह शङ्कित कर हरता है,
विमल-वायु का कोमल मानस डबडब कम्पित करता है।
मेरे सुन्दर धनुष-बाण में समुद बैठने डरता है,
इसे बुलाने पर भी तो यह कभी न निकट विचरता है।
इसे नहीं यह अब तक ज्ञात—
जब तुम मुझको बैठाती हो कंटक दल के आसन में,
उसे ग्रहण करती हूं, तब मैं कितनी प्रमुदित हो मन में।
शूल फूल से हो जाते हैं स्वकर्तव्य के पालन में,
क्या न बनी थीं पुरी अयोध्या पञ्चवटी के भी वन में।

पाठक कृपापूर्वक बतलावें कि इस गोरखधन्धे से वे क्या समझे। डरता, विचरता, हरता और हो जावेगा, भर जावेगा, गा सकेगा आदि। पहले दो खण्डों की क्रियाओं का कर्ता तो 'द्विज दल' जान पड़ता। तीसरे खण्ड में 'तुम' किसके लिए आया है और 'ग्रहण करती हूं' यह स्त्रीलिङ्ग क्रिया किसकी है? फिर 'धनुष में' (धनुष के भीतर) कोई कैसे घुस कर बैठ सकता है। हां, उसके ऊपर पक्षी अवश्य बैठ सकते हैं। ख़ैर, इन बातों को आप जाने दीजिए, क्योंकि वैसे तो इसमें अनेक विचित्रतायें हैं। अच्छा, कवि का भाव क्या है, यह बताइए और इन सतरों को पढ़ कर आप पर कुछ असर भी हुआ या नहीं, यह कहिए। क्या यह शब्दाडम्बर ही मात्र नहीं? क्या इसके पाठ से आपका हृदय कुछ भी चमत्कृत हुआ? किसीकविता में यदि कुछ हृदयहारी भाव न हो तो कम से

कम वह श्रुति-सुखद तो होनी चाहिए। यदि उसमें कुछ चमत्कार हो तो और भी अच्छा। चमत्कार को भी अच्छी कविता का एक अङ्ग समझना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण

काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।

निर्दोषलेपमपि रोहति कस्य चित्ते

लावण्यहीनमपि यौवनमङ्गनानाम्॥

काव्य चाहे सब प्रकार निर्दोष ही क्यों न हो और चाहे वह सुवर्णाभरण से अलङ्कृत ही क्यों न हो, यदि उसमें बहु-मूल्य मणि के सदृश कोई चमत्कार उत्पन्न करनेवाला पद नहीं तो—कामिनियों के लावण्य-हीन यौवन के सदृश—भला वह किसे अच्छा लगेगा?

द्विज का अर्थ है—दांत, पक्षी और ब्राह्मणादि वर्णत्रय। कविता में उड़ने और गाने आदि का उल्लेख है। इससे सूचित है कि कविता के पहले दो खण्डों में कवि किसी पक्षी की बात कह रहा है। पर अन्तिम खण्ड में उसने जो कुछ कहा है उससे उसके मन की बात ध्यान में नहीं आती। यदि ऐसी नीरस और अभावनीय सतरें भी कविता कही जा सकेंगी तो नीचे की व्यर्थ बक भी कविता ही क्यों न समझी जाय—

सिंघलदीप की पद्मिनी राय भुजावन जायँ

कोठे पर ते गिर पड़ीं का खैहो कोह का खेत

अब आप एक सत्कवि की सीधी-सादी कविता सुनिए। कवि भगवान् मुरलीमनोहर से विनय करता है—

होता दिन रात जहां तेरा दिव्य गुण-गान,
मन से कदापि जहां छूटता न तेरा ध्यान ।
सुनते जहां हैं सब नित्य ही लगा के कान,
तेरी मनोहारी मृदु मञ्जु मुरली की तान ।
सुख से सदैव तेरे प्रेमी जन भाग्यवान,
करते जहां हैं तेरा रम्य-रूप-रस-पान ।
विनय यही है वहीं तनिक मुझे भी स्थान,
कर दे प्रदान दया करके दयानिधान !

कौन ऐसा सरसहृदय श्रोता होगा जो यह कविता सुन कर लोट-पोट न हो जाय ? भगवद्भक्त तो इसे सुनकर अवश्य ही मुग्ध हो जायँगे। अन्य रसिकों पर भी इसका असर पड़े बिना ही न रहेगा। कितनी ललित, प्रसादपूर्ण और कर्णमधुर रचना है ! इसमें जो भाव निहित हैं वह सुनने के साथ ही समझ में आ जाता है। यह इसकी सबसे बड़ी खूबी है।

एक और उदीयमान बुध या बृहस्पति आदि ग्रहों के सदृश नहीं, सूर्य के सदृश छायावादी कवि की कविता सुनिए। इस कविता का नाम है—"छाया !" याद रहे, यह आश्चर्य्यसूचक चिह्न भी कवि का ही दिया हुआ है—
ज्यों प्रदीप का अन्त हुआ तू अन्धकार के संग आहा !—
आगया मलयानिल सा, क्या इस तम-तरङ्ग में छिपा रहा।

\+ × × ×

घोर निबिड़ में तू आयेगा यदि कोई यह बतलाता,
इस दीपक का मेरे द्वारा अन्त कभी का हो जाता।

+ + + +

जो हो आओ रिक्तकरों से तेरा स्वागत करता हूं,
जिसे हृदय में रक्खा था वह तव चरणों पर रखता हूं।

इस गूढ़ार्थ-प्रेमी कवि की वह चीज़ अब पाठक ही ढूंढ़ने की तकलीफ़ गंवारा करें जिसे वह अपने हृदय में, दीपक बुझने के समय तक छिपाये बैठा था। इस कविता का पहला खण्ड पढ़कर छन्दःशास्त्र को तो किसी नदी या समुद्र में डूब मरना चाहिए। यह "घोर निबिड़" क्या चीज़ है? अन्धकार तो कहीं उस पङ्क्ति में है ही नहीं। कवि का हृदय ही घोर और निबिड़ हो तो हो सकता है। ऐसी ही कविता लिखकर हिन्दी के कुछ कवि अपनेको धन्य मान रहे हैं!

इसके मुक़ाबले में अब आप एक पुराने कवि की कविता का आस्वादन कोजिए—

सुदामा तन हेरे तौ रङ्कहु ते राव कियो
विदुर तन हेरे तौ राजा कियो चेरे तें।
कूबरी तन हेरे तौ सुन्दर सुरूप दियो
द्रौपदी तन हेरे तौ चीर बढ़्यो टेरे तें॥
कहै छत्रसाल प्रहलाद की प्रतिज्ञा राखी
हर्नाकुस मार्‌यौ नेक नजर के फेरे तें।

मेरे अभिमानी गुरु ज्ञानी भये कहा भयो
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे ते।

इस पर सहृदयों से प्रार्थना इतनी ही है कि वही इसका फ़ैसिला करें कि किसे वे कविता समझते हैं—इस ऊपर के अवतरण को या छायावादी की "छाया!" को।

अब उर्दू की ओर अपने बी० ए० पास होकर निकलने की ख़बर सुनानेवाले एक और कवि की करामात देखिए। आपकी कविता का नाम है—'ज्वार'। ज्वार से मतलब इस नाम के अन्न से नहीं, समुद्र में उठनेवाले ज्वार-भाटे के ज्वार से है। कविजी के विशाल हृदयसागर में ज्वार उठने पर आपने जो कुछ फ़रमाया है वह यह है—

हृदय हमारा उमड़ रहा क्यों उठता है कैसा तूफ़ान।
उथल-पुथल यह मचा रहा क्यों? और उठाता (क्यों?)
मधुर उफान? ॥१॥

दुख की अन्तिम घड़ियों का मैं देख रहा हूं क्या यह स्वप्न?
छिपा हुआ है इस 'पतझड़' में क्या जीवन का नवल
'वसन्त'? ॥२॥

आता है क्या 'वह' मिलने को? मचल रहा तू जिसको जान;
संभल!—कहीं तू भूल न जाना! लख कर दोनों रूप
समान ॥३॥

इसमें प्रश्नचिह्न, आश्चर्य्यचिह्न, कामा इत्यादि जितने हैं सब कविजी ही के दिये हुए हैं; या, सम्भव है, प्रेस के कर्म्मचारियों

की कृपा से कुछ कूद पड़े हों। पाठक, इसमें ज्वार, तूफान, वसन्त, पतझड़ आदि की प्रभूत विभूति से विभावान्वित होकर कविजी से आप संभल कर पूछिए कि वे दो समान रूप किस किसके हैं। कवियों की वाणी में रस और चमत्कार होता है। वे पहेलियां नहीं बुझाते। नीरस बात को भी वे सरस ढंग से कहते हैं। वे मुर्दा शब्दों में भी जान डाल देते हैं। साधारण अर्थ में भी असाधारणता पैदा कर देते हैं। यदि कोई कहे—राहु नाम के राक्षस को मारने-वाले विष्णु भगवान् को नमस्कार है—तो कवि उसे फटकार बता देगा। वह कहेगा—क्या बकते हो! अपनी बात को इस तरह कहो!

नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ

सत्कवियों की इस सरस वाणी को देखिए और बी० ए० पास कवि के प्रयुक्त शब्दों के तूफान में पड़ कर हिन्दी-साहित्य के सौभाग्य की प्रशंसा कीजिए।

पाठक शायद कहें कि ऊपर अच्छी कविता के जो दो नमूने दिये गये हैं; उनमें भक्ति-भाव का प्रदर्शन है। इसी कारण वे श्रोताओं पर अपना प्रभाव डालते हैं। अच्छा तो जिसमें यह बात नहीं, ऐसी भी एक सत्कविता सुन लीजिए। हां, उसके लिए स्थिति-स्थान से उठ कर एक पुस्तक उठानी पड़ेगी। पर हर्ज नहीं। देखिए, एक कवि अन्य कवियों से कहता है—

मृत जाति को कवि ही जिलाते रस-सुधा के योग से
पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से।

कवियो ! उठो, अब तो भला कवि-कर्म की रक्षा करो,
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो।

इसमें और कुछ गुण हो या न हो, पर इसमें व्यक्त किया गया कवि का सद्भाव झट ध्यान में तो आ जाता है।

कवि-जन विश्वास रक्खें, कवियों के इस किङ्कर ने इस लेख में कोई बात द्वेष-बुद्धि से नहीं लिखी। जो कुछ उसने लिखा है, हितचिन्तना ही की दृष्टि से लिखा है। फिर भी यदि उसकी कोई बात किसीको बुरी लगे तो वह उसे उदारता-पूर्वक क्षमा कर दे—

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं
मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु ते विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः।

महिषासुर के सिर ने जिसकी कठोर ठोकर खाई है और आनन्दमग्न पुरन्दर ने जिसपर फूल-माला चढ़ाई है, नूपुरों की मधुर-ध्वनि करनेवाला, भगवती अम्बिका का वही पादपद्म, हिन्दी के छायावादी तथा अन्य कवियों को इतना बल दे कि वे अपने असद्विचारों को हरा कर उनपर सदा विजय-प्राप्ति करते रहें। अन्त में इस किङ्कर की यही कामना है।

[मई, १९२७